श्री गणेश स्मृति ग्रथमाला—ग्रथाक–१

जैन-संस्कृति का राजमार्ग

[जैन-सस्कृति का परिचय देने वाले प्रवचनो का सग्रह]

प्रवचनकार
श्री मज्जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशलाल जी म० सा०

सपादक
श्री शातिचद मेहता एम० ए० एल-एल० बी०

श्री गणेश स्मृति ग्रथमाला, बीकानेर
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ द्वारा सचालित)

प्राक्कथन

श्रीमज्जैनाचार्य श्री गणेशलाल जी म० सा० श्रमण संस्कृति के ज्योतिपुञ्ज हैं। उनके प्रवचनों का यह संग्रह 'जैन संस्कृति का राजमार्ग' आद्योपान्त देखा। जैन दर्शन के तात्त्विक विवेचन के साथ-साथ जैन-संस्कृति का स्पष्ट एवं प्रेरणादायक निरूपण इन प्रवचनों द्वारा हुआ है। इन प्रवचनों में स्पष्ट, सरल शैली में ज्योतिपुञ्ज आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज ने अपनी साधना की अनुभव प्रणीत चेतना को अभिव्यक्त किया है। आचार्य श्री ने अपने जीवन की निस्पृह साधना द्वारा जो सत्यानुभव किया, उसी के सद्‌गारों का यह उपयोगी समुच्चय है।

भारतीय धर्मों और धार्मिक संस्कृतियों का उद्‌भव मनुष्य की भावना के निरन्तर उद्वेग के शमन के लिए ही हुआ है। आत्म शुद्धि और आत्मलाभ का मूल आश्रय इतना ही है कि मनुष्य सत्य, शाश्वत नियमों के अनुसार अपना जीवनयापन करे और अविचल पूर्णत्व प्राप्त करे। इस प्रयास का एकमात्र आधार धर्म है, नियम ज्ञान नहीं। नियम ज्ञान होते हुए भी मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों के कारण अनियमित हो जाता है। अनियमित होने की मनुष्य की इस स्वाभाविक कमजोरी के निराकरण के लिए धार्मिक प्रेरणा की आवश्यकता रहती आई है। समाज-शास्त्रियों को अभी यह जानना चाहिए कि मनुष्य ज्ञान और विद्या प्राप्त करते हुए भी 'पालन' के लिए क्षमतावान् किस प्रकार होता है। जीवन की सभी कोमलताएँ अनुभव से प्रसूत होती हैं और क्षमता का यह प्रसव धर्म पालन द्वारा ही होना है।

धर्म भावना अपने अत्यन्त सुघड़ स्वरूप में श्रद्धा है। बुद्धि प्रक्रिया जीवन के भोग का उत्तेजन तो करती है, परन्तु पूर्णतः शमन नहीं कर पाती। यह शमन तो धर्म भावना द्वारा ही हो पाता है। मनुष्य अनन्त और असंकीर्ण शाश्वत जीवन की कामना करता है, जिसकी तृप्ति धर्म भावना

द्वारा ही होती है। इस अतीन्द्रिय धारणा के स्वानुभव के लिए हमें ज्ञान, विद्या और विज्ञान एक सीमा के बाद आगे नहीं ले जा सकते हैं। धर्म भावना ही हमें इस क्षेत्र में प्रवेश कराती है और यही कारण है कि संसार की अतुल्य ऋद्धि-सिद्धियों के रहते हुए भी धार्मिक महापुरुषों का प्रभाव सदियों तक मनुष्य के समूहों में घर किये रहता है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी म० के प्रवचनों में उक्त धर्म भावना का व्यवहारिक प्रतिपादन किया गया है और जैन संस्कृति के सच्चे स्वरूप को सरलता से चित्रित किया है। साथ ही एक आकर्षण यह है कि इनमें विद्वत्ता का अभिमान कहीं नहीं है। सिर्फ जीवन के अपने अनुभवों का कथन है। जैन दर्शन व आचारों को अपने प्रवचनों के प्रत्येक शब्द में प्रतिफलित करने का प्रयास किया है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज का व्यक्तित्व एक सत्यान्वेषक का व्यक्तित्व है। जैन दर्शन का उनका ज्ञान और उपदेश सांसारिकों के पथ प्रदर्शन के उपयुक्त है एवं आचार आदर्श जीवन के सत्य को प्रगट करता है। यही कारण है इस भौतिकवाद के वातावरण में आज भी हम आप श्री जैसे आचार्य के दर्शन कर सकते हैं।

—जनार्दनराय नागर
उपकुलपति राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमज्जैनाचाय पूज्य श्री गणेशलालजी म० सा० द्वारा दिये गये अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवचनो मे जैन सस्कृति से सम्बन्धित प्रवचनो का यह सग्रह "जैन सस्कृति का राजमार्ग" के नाम से प्रस्तुत करते हुए हमे हर्ष हो रहा है। इन प्रवचनो मे जैनधर्म के मुख्य मुख्य सिद्धान्तो की सरल सुबोध भाषा मे विवेचना की गई है और जिनकी मौलिकता गभीरता एव विषदता का मूल्याकन पाठक स्वय कर सकेंगे।

आचार्यश्री के अनमोल प्रवचन जनमानस मे जैनसस्कृति की महत्ता का प्रचार करने मे सक्षम हैं, इसी भावना से प्रेरित होकर इस प्रवचन सग्रह के प्रकाशन में निम्नलिखित विदुषी बहिनों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है—

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर ५००)

श्रीमती उमरावबाईजी मूथा, मद्रास ५००)

इसके लिए आप दोनो धन्यवादाई हैं और आशा है कि आपकी भावना से प्रेरणा लेकर अन्य बधु भी साहित्य प्रचार मे आर्थिक सहयोग प्रदान करेंगे।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आचार्यश्री के प्रवचन साधु-भाषा मे होते थे। फिर भी प्रमादवश सपादक या सग्राहक द्वारा भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भूल हो गई हो तो उसके उत्तरदायी सपादक या सग्राहक है और ज्ञात होने पर आगामी सस्करण मे सुधार हो सकेगा।

पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए राजस्थान के जाने माने साहित्यज्ञ श्री जनार्दनरायजी नागर के हम सधन्यवाद आभारी हैं।

इस पुस्तक का प्रकाशन एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री के आदर्शों के स्मरण को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आप श्री की स्मृति में स्थापित होने वाली 'श्री गणेश स्मृति ग्रथमाला' का शुभा-

रम्भ आप श्री के महत्त्वपूर्ण प्रवचनों से हो रहा है। जिससे हमारी यह भावना साकार हो रही है कि ग्रन्थमाला के उद्देश्य—जैनधर्म और आचार के शाश्वत सिद्धान्तों का लोकभाषा में प्रचार करना—में हम सफलता प्राप्त करेंगे।

निवेदक—
जुगराज सेठिया, मंत्री
सुन्दरलाल तातेड़, सहमंत्री
महावीरचन्द धाड़ीवाल, सहमंत्री
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर।

प्रकाशन में सहयोगिनी वहिनो का परिचय

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर—श्रीमती भूरीबाईजी सुराना रायपुर स्वर्गीय श्री अगरचन्दजी सुराना की धर्मपत्नी हैं। आप रायपुर स्था० जैन महिला सघ की उपाध्यक्षा हैं। जीवन सादा और सरल है। आपके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। दोनो पुत्र श्री चम्पालालजी व सोहनलालजी धर्मप्रेमी, समाजसेवी, कर्मठ कार्यकर्ता और सफल व्यापारी हैं। आपके फर्म का नाम 'अगरचन्द चम्पालाल' और 'अगरचन्द सोहनलाल' है। रायपुर मे कपडे के सबसे बडे व्यापारी ह। आगर एजेन्सी मे मिलो के साथ कपडे का थोक व्यापार का काम होता है। श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ को आपका और आपके सुपुत्रो का तन-मन-धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त है।

श्रीमती उमरावबाई जी मूथा, मद्रास—श्रीमती उमरावबाई जी मूथा स्वर्गीय श्री सज्जनराज जी मूथा मद्रास की धर्मपत्नी हैं। छोटी उम्र मे ही आपको वैधव्य का दुःख सहना पडा। आपका जीवन धार्मिक, सरल और सादा है। आपका दयालु स्वभाव और स्वधर्मी वात्सल्य प्रशसनीय है। आपके ससुर श्रीमान् बीजराजजी सा० मूथा का श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ को तन मन धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहता है।

सघ की ओर से हम आपका आभार मानते हैं और आशा है आगामी प्रकाशनो के लिए आपका सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा।

मत्री, श्री अखिल भारतवर्षीय
साधुमार्गी जनसघ

विषय-सूची

अध्याय — पृष्ठ

जैन-संस्कृति की विशालता

मैं आप के समय आज जैन दर्शन एव संस्कृति की विशालता पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ। यह समझने योग्य बात है कि जहाँ अन्य दर्शन वा संस्कृतियाँ एक खास घेरे मे अपने को सीमित करती हुई चली है वहाँ जैनदर्शन का आधार अत्यन्त व्यापक व गुणो पर आधारित रहा है इसमे कभी सकुचितता व कुत्सित साम्प्रदायिकता का प्रवेश नही हो पाया। मूलमत्र नवकार मत्र से लेकर ऊँचे-से-ऊँचा सिद्धात आत्मा के विकास की बुनियाद को लेकर निर्मित हुआ है।

जनदर्शन मे न तो व्यक्ति पूजा को महत्त्व दिया गया है, न ही सकुचित घेरो मे सिद्धान्तो को कसने की कोशिश की गई है। आत्म-विकास के सदेश को न सिर्फ समूचे विश्व को बल्कि समूचे जीव-जगत को सुनाया गया है।

'जैन' शब्द का मूल भी इसी भावना की नीव पर अकुरित हुआ है। मूल संस्कृत धातु है 'जि', जिसका अर्थ होता है-जीतना। जीतने का अभिप्राय कोई क्षेत्र या प्रदेश जीतना नही बल्कि आत्मा को जीतना, आत्मा की बुराइयो और कमजोरियो को जीतना है। आप अभी बालक है, फिर भी कभी अवश्य महसूस करते होंगे कि जब कभी आप झूठ बोलो या कि कुछ चुरा लो तो आपका मन काँपता होगा, फिर उस गलती को सोचकर एक घृणा पैदा होती होगी और उसके बाद आप लोगो म मे जो मजबूत इच्छाशक्ति के छात्र होंगे, वे मन मे निश्चय करते होगे कि अब आगे से कभी ऐसी बुराई नही करेंगे। यही एक तरह से जीतने की प्रक्रिया है।

मनुष्य की आत्मा में वातावरण से, संस्कार से यानी कर्म-प्रभाव से पाप कार्य करने की प्रवृत्ति होती है तो उस समय उसकी सम्यक् प्रतिक्रिया रूप जिस उत्थानकारी भावना का विस्तार होने लगता है और ज्यो-ज्यो वह

साधना में अग्रवर्ती होती जाती है त्यों-त्यों समझना चाहिए कि उसकी आत्मा में जीवन का क्रम शुरू हो गया है। मन के विकारों को नष्ट करते हुए ज्यों-ज्यों आत्म विकास की सीढ़ियों ऊपर चढ़ते जाते हैं, जीवन का क्रम भी ऊपर चढ़ता जाता है और एक दिन उस धन्य आत्मा का मुक्ति के महाद्वार में प्रवेश होता है।

तो यह है हमारे यहाँ विजय का स्वरूप, जिसमें विजेता आत्मा होता है किन्तु विजित कोई नहीं होता। इस प्रकार जो अपने अन्तःशत्रुओं पर, विकारों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर लेते वे 'जिन' कहलाते हैं। विजय के इस क्रम को हमारे यहाँ गूँथा गया है गुणस्थान की श्रेणियों में। आत्मा की विकार-श्रेणियों के साथ गुणस्थान की श्रेणियाँ चलती हैं, जिनका चरम विकास 'जिनत्व' में होता है।

ऐसे 'जिन' भगवान ने चरम विकास के अग्रस्तर पर पहुँच कर अपने ज्ञान-दर्शन चारित्र में उद्भूत जिन सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला, वे कहलाए जैन-सिद्धान्त और उनके अनुयायी जैन। तो जैन का सम्बन्ध है अपने आत्म शत्रुओं पर विजय से अपनी आत्मा के गुणों के विकास से। इसलिए जैन की कोई जाति, कोई वर्ग या कोई घेरे वाली बात नहीं है। जो कोई भी व्यक्ति हो सकता है जो अपनी शक्तियों को अपने मन को ऊपर उठाने में लगाए और आत्मिक गुणों का अभ्यास। जैनत्व का सम्बन्ध किसी खास वर्ग जाति या समूह से नहीं, बल्कि मुख्यतः गुणों से है और गुणों का क्षेत्र सदैव सर्वव्यापी और विशालतम होता है।

इसलिए जैनत्व को समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि जैनत्व के सिद्धान्तों में साम्प्रदायिकता का कहीं स्थान नहीं है। प्रत्येक समाज का व्यक्ति ही इसके पालन करने का अधिकारी है—इस दृष्टि से समूचा जगत ही यह ज्ञान सबको सहज मिलता है। यह धर्म, धर्म नहीं जो किसी भेदभाव की नींव पर खड़ा हो। धर्म का सम्बन्ध जाति या देश से नहीं, गुणों से होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने जीवन में

धार्मिक गुणों का आचरण करता है, वही सच्चे अर्थों में धार्मिक है, वरना यह कहना गलत होगा कि एक जैन इसलिए जैन है कि उसने जैन घराने में जन्म तो ले लिया है किन्तु जैनत्व का पालन नहीं करता।

स्मरण रखें कि जब-जब किसी भी धर्म या संस्कृति ने अपने अनुयायियों को यथायोग्य मुक्त चिन्तन का अवसर नहीं दिया और उन्होंने कथित सिद्धान्तों के कठोर घेरे में बांध रखने का प्रयास किया तो वहां कदाग्रह फैला है। जहां बिना दिमाग के दायरे को खोले हुए एक हठ की जाती है, एक गलत आग्रह बनाया जाता है, वहां हमेशा घेरेबन्दी का कदाग्रह फैलता है और कुत्सित साम्प्रदायिकता पनपती है। क्योंकि कुत्सित साम्प्रदायिकता की बुनियाद गुणों पर नहीं बल्कि, बेसमझी की गुटबन्दी पर होती है और गुटबन्दी खड़ी होती है व्यक्ति विशेष के आश्रय पर। क्योंकि एक व्यक्ति या तो अपनी कोई जिद पूरी करना चाहता है या अपने आग्रह को दूसरों पर बलात् लादना चाहता है, तब वह अपने प्रशंसकों का एक गुट बनाता है और वह गुट सिद्धान्तों को नहीं देखता, गुणों को नहीं परखता, सिर्फ अपने नेता का कदाग्रह पूरा करना चाहता है और उसी प्रयोजन में हरसंभव प्रयत्न करना चाहता है। यही है साम्प्रदायिकता की बुनियाद, जिसमें गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि जो प्रवृत्ति गुणों पर आश्रित होती है वहाँ कभी भी गुटबन्दी नहीं हो सकती। जैनधर्म गुणों के कारण ही व्यक्ति को महान समझता है, जन्म व जाति की दृष्टि से नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि जाति से नहीं, वरन कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही ब्राह्मण और कर्म से ही वैश्य व शूद्र माना जाना चाहिए। कितना विशाल है जैनदर्शन जहां व्यक्ति का व्यक्ति के नाते कोई मोल-महत्त्व नहीं, महत्त्व है तो उसके विकास का, उसके गुणों का।

एक महत्त्व की बात बताऊँ कि जैन दर्शन व संस्कृति के प्रणेताओं व प्रवर्तकों में भी कितनी विशाल उदारता थी। किसी भी अन्य दर्शन का वन्दना-मन्त्र लीजिए, उसमें नाम से किसी-न-किसी महापुरुष की वन्दना की गई होगी, किन्तु जैन-दर्शन का वन्दन-मन्त्र जो उसका महामन्त्र नवकार

जीवन पर्यन्त दास ही बना रहेगा और ईश्वर से मिन्नतें ही करता रहेगा। उसे उन मिन्नतों के बदले में कुछ सुख-सुविधाएँ तो मिल जाएँगी किन्तु वह रहेगा गुलाम का-गुलाम ही।

जैनदर्शन अपने उत्थान-पतन का कर्ता एवं अपने सुख दुःख का प्रणेता अपने ही आत्मा को मानता है। वह ईश्वर और भक्त के बीच हमेशा स्वामी-सेवक की खाई बनाकर नहीं रखता। वह आत्मा के निज के पराक्रम को प्रज्ज्वलित करता है और निष्ठा के साथ यह कहना चाहता है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है। आवश्यकता है कि उस शक्ति पर जो विकारों का मैल चढ़ा हुआ है, उसे संयम और साधना से धो दिया जाय तो विकास की वह उच्चता उस आत्मा को भी मिल जाएगी जिस उच्चता पर हम ईश्वर को प्रतिष्ठित मानते हैं। तब वह आत्मा भी ईश्वरत्व में परिणत हो जायगा। अर्थात् ईश्वरत्व आत्म-विकास की वह चरम उच्चता है जो सभी भव्य आत्माओं का प्राप्य है और उसी को आदर्श मानकर संसार में साधना-मार्ग की गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा विकास करता हुआ ईश्वर बन सकता है और वह ईश्वर बनता है तो दूसरों पर स्वामित्व रखने के लिए नहीं किन्तु अपने ही आत्म स्वरूप की परम उज्ज्वलता को प्रकट करने के लिए। ऐसी विचारणा अवश्य ही मनुष्य की रचनात्मक व साधनाशील प्रवृत्तियों को जागृत करती है कि वह भी ईश्वर बन सकता है। इसके विपरीत अन्य दर्शनों में रही ईश्वर की धारणा मनुष्य को शिथिल बनाती है, क्योंकि वह हमेशा भक्त ही रहेगा दास ही रहेगा तो उसकी साधना को बल और उत्साह कहाँ से मिलेगा?

जैनदर्शन की मूलाधार श्रमण-संस्कृति है। श्रमण शब्द प्राकृत का है। संस्कृत में इसके तीन रूप होते हैं—श्रमण, समन और शमन। श्रमण शब्द "श्रमु तपसीखेदे च" धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। इसलिए जैन-संस्कृति की मूल निष्ठा श्रम है। नियति—भाग्य के आश्रय पर बैठने वाले निश्चित रूप से अकर्मण्य बनते हैं और अपने पतन को निकट लाते हैं। यदि अपनी उन्नति करना चाहते हो तो पुरुषार्थ करो श्रम

स्वतन्त्र हो जाओ कि किसी तरह पराश्रयी न रहकर स्वावलम्बी बन सको और यह जो पुरुषार्थ—श्रम—करना है किन्हीं दूसरों को दबाकर अपना सिर ऊँचा करने के लिए नहीं अथवा दूसरों का शोषण करके अपना घर भरने के लिए नहीं बल्कि अपने आन्तरिक शत्रुओं एवं मनोविकारों को नष्ट करने के लिए। जब आत्मा में श्रमण-वृत्ति जागती है तो वह अपना सारा व्यापक हित के लिए विसर्जित कर देता है, अपना सुख बाँटता और साधना में विचर लेता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ही मानव को प्रगति के पथ पर अग्रगामी बनाता है। जो व्यक्ति स्वावलम्बी रहता है, वही सुखी बनता है और जो पराधीन है वह चाहे सारी सुख सामग्री के बीच पड़ा है, तो भी सुखी नहीं हो सकता। जो संस्कृति स्वतन्त्रता को आधारस्तम्भ बनाकर खड़ी है, उसकी व्यापकता एवं विशालता की तुलना किसी अन्य विदेशी संस्कृतियों से नहीं की जा सकती। जैन संस्कृति का मूलाधार 'श्रमण' है।

'समण' का दूसरा शब्दरूप होता है—समन। इसका अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति साम्यभाव रखना। सबके सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझकर उनके प्रति व्यवहार करना। कष्ट में पड़े हुए प्राणी को देखकर उसे कष्ट से मुक्त करना और उसकी रक्षा करना—यह सहज वृत्ति आत्मा में आते उसे समन कहा है। इसकी सबसे बड़ी कसौटी आत्मानुभव है। यह विचारणा मनुष्य को प्राणिमात्र के प्रति दया का दान कराने वाली है। यदि इस विचारणा के अनुसार आचरण करे। बाधा कोई भी क्यों न हो। उसके मन में अशान्ति का विचार या वातावरण कभी भी पैदा नहीं होता। जब वह किसी प्राणी को कष्ट से मुक्त करता या करता हुआ उसे सहयोग देता तो स्वयं मन में एक प्रकार शान्ति का अनुभव होगा जो उसे सुखानुभव करायेगा।

तीसरा शब्दरूप है—शमन अर्थात् शान्त करना। दबाना है अपनी दुर्वृत्तियों एवं अपनी दुष्प्रवृत्तियों को ताकि सत्प्रवृत्तियाँ पनपें और आत्मा में सुविचार पैदा हों। जिस व्यक्ति में शमन व्यवहार का आग्रह है वही व्यक्ति दूसरों के प्रति सद्व्यवहार कर सकेगा और असद्व्यवहार का शमन करेगा। किन्तु जिसकी अपनी वृत्तियों या प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं है, जीवन की

गतियो पर अधिकार नही है, वह अपने जीवन म क्षुद्र ही बना रह जाता है। आज मनुष्या की अधिकतर यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि व अपनी ओर लक्ष्य न देकर दूसरा को नियन्त्रित करन का ज्यादा ध्यान करते है और इसी से पतन हो रहा है। अगर अपन आप पर नियन्त्रण रखन की पहले कोशिश की जाय ता स्वय उसकी प्रवृत्तियाँ जब सन्तुलित हा जाएँगी ता सारे समाज मे ही स्वयचालित नियन्त्रण व सन्तुलन होने लगेगा और वह कष्टप्रद नही रहेगा। जिसने अपने जीवन पर अधिकार कर लिया, भावना की दृष्टि से उसका जगत पर अधिकार हो जाता है।

तो जैन सस्कृति तीन प्रमुख बिन्दुओ पर आधारित है और वे तीन बिन्दु है—श्रम, समता और सद्वृत्ति। श्रमण शब्द का सार इन तीनो बिन्दुओ मे है। एक तरह से श्रम सत्य है, समता शिव है और सद्वृत्ति सौदय है। य तीनो सीढियाँ जीवन का पूण बनाने वाली सीढियाँ है और जैन सस्कृति जो गुणा पर आधारित है, प्रेरणा देना चाहती है कि आपका विकास आपकी मुट्ठी मे है। सकल्प करो निष्ठा मे श्रम—पुरुषाथ मे जुट जाओ। आपकी विशाल शक्तियो का प्रकट होने से कोई नही रोक सकेगा। उन शक्तियो के प्रकाश मे आपको अपनी आत्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देगा और तभी आप दूसरी आत्माओ मे भी समानता देख सकेंगे और एक साम्यवृत्ति जागेगी। सभी के प्रति जागी हुई समानता की भावना आपको सदैव सद्वृत्तियो की राह पर बलपूवक ले जाएगी और आप अनुभव करेंगे कि श्रम, समता और सद्वृत्ति की सीढिया आपके जीवन का ऊपर उठाती जा रही है।

यह है जैन-संस्कृति की विशिष्टता जिसमे गुणा का ही महत्त्व है। जिसम गुण हैं, वह किसी भी अवस्था म हो—गरीब या धनी साधु या गृहस्थ—पूजनीय है। जिसमे गुण नही, जो जीवन-कला को नही जानता, वह यदि साधुवेष भी धारण किये हुए हो तो भी वन्दनीय या पूजनीय नही हो सकता। आडम्बर व्यक्ति की कसौटी नही, वह कसौटी तो उसके गुणावगुण है। श्रमण शब्द का अथ यही है कि श्रममय जीवन यापन

करना, प्राणिमात्र पर साम्यदृष्टि रखना और अपने आत्म विकास में बाधक रूप समस्त प्रवृत्तियों का शमन करना—यही साधुत्व है।

इस सिद्धान्त की वास्तविकता को भी समझ लीजिए कि गुणों की स्थिति और गुणों का विकास भी मूलतः भावना पर ही टिका रहता है। गुणों के पक्ष में भावनाओं का उत्थान और निर्माण यदि मजबूत बन जाय तो फिर उनके कार्यान्वय में कभी दुर्बलता नहीं आ सकेगी। इसलिए भावनाओं के निर्माण की पहली आवश्यकता है।

हमारे यहाँ एक कपिल केवली का वृत्तान्त आता है। कपिल एक गरीब ब्राह्मण था, इतना गरीब कि वह अपने खाने-पीने के साधन भी मुश्किल से ही जुटा पाता था। उस नगर में राजा प्रातः सर्वप्रथम दर्शन देने वाले ब्राह्मण को एक स्वर्णमुद्रा दान में देता था। तीन दिन से भूखा-प्यासा कपिल दर्शन देकर स्वर्णमुद्रा प्राप्त करने की अभिलाषा से रात को १२ बजे ही घर से निकल पड़ा। प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरे दिन दरबार में कपिल को पेश किया गया। कपिल ने जब सत्य-सत्य स्थिति राजा को बताई तो वह दया से द्रवित हो उठा। उसने कपिल से इच्छा हो सो माँग लेने को कहा। कपिल ने सोचने के लिए समय माँगा और वह बाग में बैठकर सोचने लगा—जब माँगना ही है तो एक क्या दस स्वर्णमुद्राएँ माँग लूँ... फिर दस ही क्या सौ, हजार, लाख स्वर्ण-मुद्राएँ माँग लूँ...लेकिन जब राजा से माँगना ही है तो उसका समूचा राज्य ही क्यों न माँग लूँ? किन्तु इस विचार के साथ ही उसके हृदय को धक्का लगा और उसकी भावना जागी — मैं कितना क्षुद्र हूँ? राजा की उदारता का यह बदला देना चाहता हूँ कि उसका राज्य ही छीन लूँ। वह अपनी आत्मा को धिक्कारने लगा और आत्मिक विचारणा में डूबने लगा। कुछ क्षणों में ही कपिल की भावना इतनी ऊँची चढ़ गई कि उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भावना के निर्माण पर ही गुणों का विकास हो सकता है। भावना के धरातल पर गुण टिकते और

गुणो मे आत्मा चरम विकास की ओर गतिशील हो, यही जैन दर्शन एव सस्कृति की मूल प्रेरणा है।

मुझे आप नवयुवको से यही कहना है कि आप जैन दर्शन एव सस्कृति की इस विशालता एव महानता को हृदयगम करें एव उस प्रकाश मे अपने जीवन का निर्माण तथा विकास साधें। अभी मैने "समण" शब्द का जो अर्थ व्यक्त किया, वह केवल साधुओ के लिए ही नही है। आप लोगो को भी शास्त्रकारो ने 'समणोपासक' कहा है अर्थात् समण-सस्कृति की उपासना करने वाले, समण-वृत्ति के अनुसार आचरण करने वाले।

आप लोगो ने जैन सोसायटी नामक सस्था स्थापित की है तथा जैन-सस्कृति के प्रचार की बात आप सोच रहे है। यह अच्छा है, लेकिन इन कार्यों मे अपने प्रत्येक कदम पर जैन दर्शन एव सस्कृति की मूल भावना का सदैव ख्याल रखना। जो दृष्टिकोण मैने आपके सामने रखा है, उसके अनुसार यदि आप जैन-सस्कृति का प्रचार करते हो तो प्रत्येक धर्म व सस्कृति के सत्याश का स्वत ही प्रचार हो जाएगा। क्योकि जैनदर्शन का कभी आग्रह नही कि उसका अपना कुछ है—वह तो सदाशयो का पुंज है, जहाँ से सभी प्रेरणा पा सकते है। ब्राह्मण-सस्कृति व पाश्चात्य देशो मे भी अहिंसा, सत्य एव पुरुषार्थ के जिन रूपो का प्रवेश हुआ है, उसे जैन-सस्कृति की ही देन समझना चाहिए। गाधी जी ने भी अहिंसा का साधन बनाकर देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को मजबूत बनाया, वह भी जैन-सस्कृति की ही विजय है।

भगवान महावीर ने किसी प्रकार की गुटबदी, साम्प्रदायिकता फैलाने का कभी नही सोचा। उन्होने तो श्रम, समता, सद्वृत्ति की सन्देश-वाहक श्रमण-सस्कृति का प्रचार करके गुण-पूजक सस्कृति का निर्माण किया और अनेकान्त के सिद्धान्त से सबका समन्वय करना सिखाया। इसलिए इस सस्कृति का प्रचार करना है तो सयम को कभी मत भूलना। सस्कृति के विकास का मूल सयम है। जैनधर्म यही शिक्षा देता है कि सयम के पथ पर चलकर साधा हुआ विकास ही सच्चा विकास है। जहाँ अपनी वृत्तियो पर

नियन्त्रण नहीं, विलासिता व परमुखापेक्षी भावना है, वहाँ धर्म का विकास ही सधेगा और न प्रचार ही होगा।

इसलिए आप नवयुवक भावना से गुणोपासक बनकर अपनी वृत्तियों व प्रवृत्तियों में संयम का प्रवेश कराएँ और उसके बाद निष्ठापूर्वक महान् एवं विशाल जैन दर्शन तथा संस्कृति का समुचित प्रचार करें। आपको आशा ही सफलता मिलेगी और आप इसकी विशालता का परिचय दूसरों को दे सकेंगे।

स्थान—
महावीर भवन,
चाँदनी चौक, दिल्ली

(जैन सोसायटी दिल्ली के विद्यार्थियों के समक्ष दिया गया व्याख्यान)

महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता

महावीर और बुद्ध ने जिस गणतंत्र के स्वतंत्र वातावरण में स्वयं का विकास साधा और कोटि-कोटि जन को जीवन के स्वाधीनतापूर्ण विकास की ओर उन्मुख किया, आज भारत में उसी गणतंत्र की ज्योति चमक उठी है। परतन्त्रता की शृंखलाओं को काटकर जन-जन का जीवन जो आज स्वतंत्र गणतंत्र के उल्लास में परिपूरित हो उठा है, उसके ही प्रतीकस्वरूप आज चारों ओर मनाए जाने वाले समारोह हैं। मैं भी आज के दिवस के अनुरूप ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ कि महावीर का सर्वोच्च स्वाधीनता का सन्देश कैसा अनुपम है और उस उत्कृष्ट स्वाधीनता की ओर हम भारतवासियों को किस उत्साहपूर्ण भावना में गति करनी चाहिए?

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनों हैं। हिंसा के नग्न ताडव से सन्तप्त एवं शोषण व अत्याचार से उत्पीडित जनता को दुःखों से मुक्त करने के लिए भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रान्तिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शान्ति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य पथ प्रदर्शित किया।

माया-परिग्रह रूप पिशाचिनी के कराल जाल में फसे हुए मानवों को उन्होंने पथभ्रष्ट विलासिता के दल-दल से निकालकर निग्रन्थ अपरिग्रहवाद का आदर्श बताया। उन्होंने स्वयं महलों के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श से स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग में ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योंकि ग्रंथि (ममता) को ही उन्होंने समस्त दुःखों का मूल माना,

कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकार के लिये रोता नहीं, वह काय करना जानता है और कतव्यो के कठोर पथ पर कदम बढाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता म भी कहा गया है—

"कमण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।"

फल की कामना से कोई काय मत करो, अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कम मे एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूण समाज पर विशुद्ध एव स्वस्थ प्रभाव पड सकेगा। कामनापूण कम दूसरो के हृदय मे विश्वास पैदा नही करता, क्योकि उसमे स्वाथ की गध होती है और सिफ स्वार्थ, पराथ का घातक होता ह। स्वाथ छोडने से पराथ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को अपनाकर विश्व मे फैली बडे-छोटे, छूत अछूत, धनी-निधन आदि की विषमता एव भौतिक शक्तियो के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबका समानता के अधिकार बताए। यही कारण है कि ढाई हजार वष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभावो की गूज बराबर बनी रही ह। महात्मा गाधी आदि प्रभृति राष्ट्रीय नेताओ ने, कोई सन्देह नही कि इसी गूज मे प्रेरणा प्राप्त की एव उनके सन्देश को जगत मे पुनप्रतिष्ठित किया। चाहे बाह्य दृष्टि म ये नेता न जैन कहलाये, न ही महावीर के शिष्य किन्तु अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तो को जो सामाजिक महत्त्व इन्होंने दिलाया उसे हम इनका जनत्व ही मानें। क्योकि आप जानते ही है कि जैनत्व किसी वग, जाति या क्षेत्र के साथ बधा हुआ नही है तथा न ही इसका नाम से ही साथक महत्त्व है। शुद्ध दृष्टि से तो जैनत्व वहाँ ही माना जायगा, जहाँ तदनुरूप काय का अस्तित्व है। अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध जो स्वातन्त्र्य-सघर्ष आज तक किया गया, उसमे अहिंसा और त्याग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा उसी भावना का परिणाम है कि आज भारत स्वतन्त्र मे गणतन्त्र भी हो रहा है। तो जिस पथ पर चलकर इतना विकास सम्पादित किया जा सका है, महावीर वाणी कहती है कि इसी पथ पर आगे बढो, ताकि आत्मविकास

और वाणी जब तक कर्म में परिणत नहीं हो सके, वे अपने आप में प्रभावशाली नहीं होते। युवकों को यह सोचना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियों में वे समाज की गतिशीलता में क्या और किस प्रकार योग दे सकते हैं कि सर्वोच्च स्वाधीनता की ओर हमारे कदम बढ़ते चले जाएँ ?

आज मैं राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली पर भी दृष्टिपात करता हूँ तो उसमें वाग्विलास ही दिखाई देता है। बजाय इसके कि उनकी कार्यप्रणाली में नवनिर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति दिखाई दे। भारत के एक चिन्तनशील कवि जगन्नाथ ने जो यह अन्योक्ति कही है, उससे ऐसा प्रतिभास होता है कि वह संभवत: वर्तमान परिस्थिति को ही इंगित करके कही गई हो—

पुरा सरसि मानसे विकचसार सालिस्खल-
पराग सुरभिकृते यस्य यात वय ।
स पलवल जलेऽधुनालिलदनेक भेकाकुले,
मरालकुलनायक कथय रे कथ वर्तताम् ।
—भामिनीविलास

अर्थात् कमलों से आच्छादित, झरते हुए पराग से सुगंधित एवं मधु से भी मधुर मानसरोवर के शीतल जल और चमकते हुए बहुमूल्य मुक्ता का पान करता हुआ सुंदर सुन्दर कमलों पर क्रीडा करके अपना जीवन-यापन करने वाले राजहंस को ऐसी छोटी सी तलैया पर बैठा देखें, जिस तलैया में पानी तो थोड़ा हो और मेंढक अधिक हों, जो राजहंस के अन्दर चोंच डालते ही फुदक फुदककर पानी को गदला बना डालते हों और राजहंस को पानी पीने से वंचित रख देते हों तो ऐसी दुःखावस्था को देखकर कवि हृदय बोल उठता है कि हे मानसरोवर के आदिवासी राजहंस, तुम्हारी यह दुःखद दशा कैसे ?

बन्धुओ! जरा ध्यान से भारत के गौरवपूर्ण अतीत पर नजर डालिए कि वह हमेशा मानसरोवर पर रहा है और यहाँ ऋषभ, शांतिनाथ, राम, कृष्ण, महा-

वीर जैसे राजहंस हो गए हैं। जिन्होंने सदैव सत्सिद्धान्तों रूपी मुक्ताओं का चयन किया और उन्हें समग्र मानवजातियों को भेंट किया। किन्तु आज यह दुर्भाग्य रहा जो मानसरोवर के राजहंस सौंदर्य व कलहपूर्ण राजनीति की गहरी खंदियों पर बैठे हैं और जनता को गुमराह बना रहे हैं। गम्भीर चिन्तन कर महावीर का त्यागमय सन्देश हृदय में ग्रहण कीजिए, तब आप भलीभाँति अनुभव कर सकेंगे कि आज का युग ईर्ष्या, विग्रह एवं आलोचना का नहीं प्रेम, सहानुभूति एवं समन्वयधर्मों के पालन करने का है। अब तक राज नैतिक रूप से ही सही, लेकिन जनता के जो हाथ-पाँव बंधे हुए थे, वे मुक्त हो गए हैं और अवसर आया है कि अपने अथक कार्यों से देश की त्यागमय संस्कृति का अपने प्रकाश फिर से विश्व में फैला दें। जिस विश्वप्रेम का पाठ ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने पढ़ाया था उसी पाठ को वर्तमान समय में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के संत जनता को पढ़ा रहे हैं और गांधीजी सरीखे पुरुषों ने विश्वप्रेम का अहिंसा के नाम से व्यवहारिक व राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रमाणित किया है जो कि आज सबके सम्मुख है और सत्य भी यही है कि मानव मानव की आत्मा के साथ शुद्ध अहिंसामय प्रेम स्थापित कर अपने सभी कल्पित संकुचित दायरों से ऊपर शुद्ध मानवता के अनुभाव का पूर्ण विकास हो। विचार भिन्नता होने पर भी कार्यक्षेत्र में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, मतभेद मनभेद का रूप नहीं करे। जो राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है उसका उपयोग महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता के लिए होना चाहिए। इसी में देश का गौरव है और गौरव है शुद्ध श्रमण संस्कृति का।

महावीर ने जिन धर्मों का कथन किया है उनमें राष्ट्रधर्म का भी उल्लेख है। राष्ट्र शब्द आज के भौगोलिक सीमाओं से बना हुआ अर्थ एवं संस्कृति का एक बड़ा रूप होता है और उस सीमा तक कि वह एक निश्चित प्रदेश पर आधारित रहती। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं भक्ति भी पूर्ण रूप से आवश्यक है। आज यही निष्ठा एवं भक्ति भारतीयों के हृदयों में पैदा होनी चाहिए कि देश का सम्मान बढ़े। आचार इस पर एक छोटी-सी कथा बताई जाती

है कि वहाँ एक भारतीय अपनी इच्छा के फल न मिलने के कारण जापान के प्रति निन्दात्मक बातें कह रहा था, जिसे एक गरीब जापानी ने सुन लिया। वह बडा विक्षुब्ध हुआ और कही से खोज-खाजकर वह फलो की टोकरी ले आया और उसने उस भारतीय का दे दी । भारतीय जब उसे दाम देने लगा तो उसने बडा मार्मिक जवाब दिया—महाशय, मुझे पैसा नहीं चाहिए, देश का मान हमारे लिए बडा है, जन्मभूमि का सम्मान हमे अपने जीवन से भी अधिक प्यारा है । आपसे इन फलों की मैं यही कीमत मागता हूँ कि आप अपने देश मे जाकर मेरे देश जापान की किसी प्रकार निन्दा न करें ।

राष्ट्र के प्रति व्यक्त किया जाने वाला यह सम्मान देशवासियो मे गौरव का भाव उत्पन्न करता है और यही गौरव का भाव सकटो मे धैय, वैभव म नम्रता तथा कम मे कमठता को बनाए रखता है । जिन्हें अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नही होन देंगे, चाहे कितनी ही विवशतापूर्ण परिस्थितिया उनके सामने आकर खडी हा जाएँ ! अपनी आत्मा का गौरव बनाइए, उसे निभाइए और अपने साथियो के गौरव की रक्षा कीजिए, फिर देखिए समाज और राष्ट्र का गौरव बनेगा और वह विश्व के गौरव मे बदलता जाएगा । छोटे से लेकर समूहो तक के जीवन विकास की यही कहानी है ।

आज आप लोग भी स्वतन्त्रता के प्रतीक चक्रयुक्त तिरगे झडे का अभिवादन कर रहे हैं, स्वतन्त्रता पर भाषण-अभिभाषण हो रहे हैं किन्तु इन बाह्य क्रियाओ मात्र से स्वतन्त्रता का रक्षण होने वाला नही है । इसके लिए तो अपने स्वार्थों का बलिदान चाहिए और चाहिए है वैसी कमठता जो त्याग की भूमि पर सुदृढता से गति कर रही हो । अगर ऐसा नही हुआ तो क्या यह राजनीतिक स्वतन्त्रता टिक सकेगी और क्या महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता की साधना की जा सकेगी ? इसलिए बन्धुओ, गणतन्त्र दिवस पर प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे । ॐ शाति ।

जसवन्त टॉकीज, आगरा २६ जनवरी, १९५०

वीर जैसे राजहंस होते रहे हैं। जिन्होंने सदैव मतसिद्धान्तों रूपी मुक्ताओं का चयन किया और उन्हें समग्र भारतवासियों को भेंट किया। फिर आज यह दुर्भाग्य क्या जो मानसरोवर के राजहंस आज़ी व कनहूपुग राजनीति की गंदी तलैया पर बैठ हैं और जनता का मेंढक बना रहे हैं। गणतंत्र दिवस पर महावीर का त्यागमय सन्देश हृदय में ग्रहण कीजिए, तब आप भलीभांति अनुभव कर सकेंगे कि आज का युग ईर्ष्या, विग्रह एवं आलोचना का नहीं, प्रेम, सहानुभूति एवं कर्तव्यकर्मों के पालन करने का है। अब तक राजनीतिक रूप से ही सही, लेकिन जनता के जो हाथ-पाँव बंधे हुए थे, वे मुक्त हो गए है और अवसर आया है कि अपने अथक कार्यों से देश की त्यागमय संस्कृति का धवल प्रकाश फिर से विश्व में फैला दें। जिस विश्वप्रेम का पाठ ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने पढाया था उसी पाठ को वर्तमान समय में निग्रन्थ श्रमण संस्कृति के संत जनता को पढ़ा रहे हैं और गाधीजी सरीखे पुरुषों ने विश्वप्रेम को अहिंसा के नाम से व्यवहारिक व राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रसारित किया है, जो कि आज सबके सम्मुख है और मेरा भी आदेश है कि मानव, मानव की आत्मा के साथ शुद्ध अहिंसामय प्रेम स्थापित करें, अन्य सभी कर्मजनित संकुचित दायरों से ऊपर शुद्ध मानवता के अनुभाव का पूर्ण विकास हो। विचार भिन्नता होने पर भी कार्य-क्षेत्र में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, मतभेद मनभेद को पैदा नहीं करे। जो राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है उसका उपयोग महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता के लिए होना चाहिए। इसी में देश का गौरव है और गौरव है शुद्ध कर्मण्य शक्ति का।

महावीर ने दस धर्मों का वर्णन किया है, उसमें राष्ट्रधर्म का भी उल्लेख है। राष्ट्र अपने आप में भौगोलिक सीमाओं में बंधा हुआ धर्म एवं संस्कृति का एक बड़ा घटक होता है और उस सीमा तक कि वह धर्म विश्व प्रेम पर आघात न करे। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं भक्ति भी पूर्णतया आवश्यक है। आज वही निष्ठा एवं भक्ति भारतीयों के हृदयों में पैदा होनी चाहिए कि देश का सम्मान बढ़े। जापान देश की एक छोटी-सी घटना बताई जाती

है कि वहाँ एक भारतीय अपनी इच्छा के फल न मिलने के कारण जापान के प्रति निन्दात्मक बातें कह रहा था, जिसे एक गरीब जापानी ने सुन लिया। वह बडा विक्षुब्ध हुआ और कही से खोज-खाजकर वह फलो की टोकरी ले आया और उसने उस भारतीय को दे दी। भारतीय जब उसे दाम देने लगा तो उसने बडा मार्मिक जवाब दिया—महाशय, मुझे पैसा नही चाहिए, देश का मान हमारे लिए बडा है, जन्मभूमि का सम्मान हमें अपने जीवन से भी अधिक प्यारा है। आपसे इन फलो की मै यही कीमत मांगता हूँ कि आप अपने देश मे जाकर मेरे देश जापान की किसी प्रकार निन्दा न करें।

राष्ट्र के प्रति व्यक्त किया जाने वाला यह सम्मान देशवासियो मे गौरव का भाव उत्पन्न करता है और यही गौरव का भाव सकटो मे धैय, वैभव मे नम्रता तथा कम मे कमठता को बनाए रखता है। जिन्हें अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नही होने देंगे, चाहे कितनी ही विवशतापूण परिस्थितियाँ उनके सामने आकर खडी हो जाएँ! अपनी आत्मा का गौरव बनाइए, उसे निभाइए और अपने साथियो के गौरव की रक्षा कीजिए, फिर देखिए समाज और राष्ट्र का गौरव बनेगा और वह विश्व के गौरव मे बदलता जाएगा। छोटे से लेकर समूहो तक के जीवन विकास की यही कहानी है।

आज आप लोग भी स्वतन्त्रता के प्रतीक चक्रयुक्त तिरगे झडे का अभिवादन कर रहे है, स्वतन्त्रता पर भाषण-अभिभाषण हो रहे हैं किन्तु इन बाह्य क्रियाओ मात्र से स्वतन्त्रता का रक्षण होने वाला नही है। इसके लिए तो अपने स्वार्थों का वलिदान चाहिए और चाहिए हैं वैसी कमठता जो त्याग की भूमि पर सुदृढता से गति कर रही हो। अगर ऐसा नही हुआ तो क्या यह राजनीतिक स्वतन्त्रता टिक सकेगी और क्या महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता की साधना की जा सकेगी? इसलिए बन्धुओ, गणतन्त्र दिवस पर प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहगे। ॐ शाति।

जसवन्त टॉकीज, आगरा २६ जनवरी, १९५०

जैन अहिंसा और उत्कृष्ट समानता

"जय जगत शिरोमणी, हु सेवक ने तू धणी "

प्रार्थना म कहा गया है कि हे जगत के शिरोमणि, हे प्रभु, तुम्हारी जय हो ! मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम मेरे स्वामी हो। मै आपसे पूछूँ कि क्या हमारे कहने से ही परमात्मा की जय हो और हमारे न कहने से उसकी जय नहीं हो ? आपका यह प्रश्न कुछ अटपटा लगे किन्तु उत्तर स्पष्ट है। हमारे जय कहने या न कहने का परमात्मपद पर कोई असर नहीं पड़ता और न ही जिस श्रेणी म सिद्ध विराजमान हैं, उनका हम सांसारिक प्राणियो से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है। यह जय तो हम अपने आत्मिक-जागरण के लिए कहते है कि उनका प्रदर्शित पथ हमारे अन्तर् मे रम सके और हम उनकी जय भी इसलिए कहते है कि व पूर्ण पुरुष हैं। अपूर्ण की जय नही कही जाती। पूर्ण विजेता ही जयवान् होता है। जिस तरह कुम्हार का कच्चा घडा या रसोई मे रखा कच्चा सामान तृषा व क्षुधा सन्तुष्टि म सहायक न होकर पक्का घड़ा व पक्वान्न ही वैसे हो सकते हैं।

तो हम प्रभु की जय इसलिए कहते है कि हम उसके प्रति वफादार बने रहें। सेवक अगर स्वामी के प्रति वफादार न बन सके तो फिर उसका सेवकत्व ही क्या ? फिर परमात्मा का सेवक होना तो कोई छोटी बात नहीं है। साधारण स्वामी को तो अपलक्षण तरीके से छला भी जा सकता है लेकिन त्रिलोक नाथ सा प्रभु के प्रति वफादारी का अर्थ है कि अपने जीवन म एक निश्चित विधि से निश्छल साधना की जाय और इस साधना का प्रमुख रूप है कि परमात्मा के सभी सेवकों की इस सृष्टि म हम समानता की स्थिति पैदा करें। सभी परमात्मा के सेवक है—फिर उनके बीच

भेदभाव और विषमता क्यों ? एक सेठ का नौकर भी जब सेवा का काम करता है तो पुरस्कार पाता है और काम बिगाडता है तो तिरस्कृत होता है। फिर हम भी परमात्मा के सेवक बनकर यदि सृष्टि का सुधार करेंगे तो ऊँचे चढते जाएँगे तथा अपने साथियो का अकल्याण करेंगे पहले तो हमारा ही पतन होगा ?

अत परमात्मा की जय बोलते हुए इस सृष्टि मे उसके प्रति वफादार रहने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा का मार्ग। इसीलिए जैनधर्म का हृदय है अहिंसा—'अहिंसा परमोधर्म।'

इस सृष्टि मे रहते हुए सृष्टि को सुधारने वाला जो यह अहिंसा का सिद्धान्त है, वह क्या है ? यह गभीरता से सोचने और समझने लायक है। अहिंसा के पथ पर जो भी चला, उसने अपने विकास की चरम श्रेणी प्राप्त कर ली। आनन्द देकर जो आनन्द मिलता है, उसी के प्रकाशमान स्तभ अहिंसा पर हम यहाँ विचार करेंगे।

जैनधर्म मे अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्वाधिक सूक्ष्म है। यो तो अहिंसा को मान्यता सभी धर्म देते हैं किन्तु साथ-ही-साथ "धार्मिकी हिंसा हिंसा न भवति" का तर्क देते है अथवा साधुओ को भी सकट मे मासभक्षण का निर्देश करते है। वहाँ जैनधर्म की आत्मा अहिंसा है। "जय चरे, जय चिट्ठे " हर कार्य इतनी यतना से होना चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को तनिक-सा भी क्लेश देने वाला नही हो।

वैसे 'अहिंसा' शब्द स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक है। जहा हिंसा नही, वहाँ अहिंसा। हिंसा की हमारे यहाँ व्याख्या दी गई है—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा"—प्रमाद के योग से किसी भी प्राण को हनना या क्लेश पहुँचाना हिंसा है। वैसे यह व्याख्या बहुत सीधी है, किन्तु मै यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जैनधर्म मे अहिंसा के न सिर्फ इस नकारात्मक पहलू पर गभीर प्रकाश डाला गया है वरन् अहिंसा के स्वीकारात्मक पहलू का सविस्तार अध्ययन किया गया है।

किसी भी प्राण को क्लेशित करने का नाम हिंसा कहा गया है तो प्रश्न पैदा होता है कि प्राण क्या ? जीवधारी की जो सजीवता है वही उसका प्राण है। प्राण का धारक होने से ही वह प्राणी कहलाता है। प्राण १० प्रकार के बतलाये गए है—

१ एकेन्द्रिय बल प्राण
२ बेइन्द्रिय बल प्राण
३ तेइन्द्रिय बल प्राण
४ चौइन्द्रिय बल प्राण
५ पचेन्द्रिय बल प्राण
६ मन-बल प्राण
७ वचन-बल प्राण
८ काया-बल प्राण
९ श्वासोच्छ्वास बल प्राण
१० आयुष्य बल प्राण

अर्थात् प्राणी एकेन्द्रिय (पृथ्वी आदि) से लेकर पचेन्द्रिय (पशु, मनुष्य आदि) तक अपनी इन्द्रिय धारकता से होते हैं। इन्ही प्राणियो में काया सूक्ष्म या स्थूल सबके होती है तथा मन और वचन की शक्ति किन्हीं प्राणियो में होती है और किन्ही मे नही होती। श्वासोच्छ्वास और आयुष्य का सम्बन्ध सभी प्राणियो से होता है। तो अब देखना यह है कि प्राणो को क्लेशित करने का क्षेत्र कितना लम्बा चौडा है और हिंसा से बचने का प्रयास करना कितनी साधना का काम होता है ?

पहली बात तो यह कि प्राण सिर्फ मनुष्य या पशु पक्षियो में ही वर्तमान नही हैं, जिनका ख्याल आसानी से रखा जा सकता है, किन्तु छोटे-छोटे कीडे मकोडे और वनस्पति, पानी आदि के लघुकाय जीवो के भी प्राणो को यदि किसी प्रकार से हमारी क्रियाओ द्वारा कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा है। किसी भी प्राणी को मारना, काटना या मारकर मास सेवन करना—ये तो बहुत मोटी बातें हैं और हिंसा की दृष्टि से इस सब जल्दी ही

पहिचान जाते हैं किन्तु छोटे-छोटे प्राणियो को न मारना या कलेशित न करना विवेक का काम है।

इसके बाद हिंसा की व्याख्या मे न सिर्फ प्राणियो की काया को कष्ट देना ही सम्मिलित है बल्कि उनके मन, वचन, श्वासोच्छवास व आयुष्य तक का व्याघात करना या वध करना भी हिंसक कार्यों मे गर्भित है यह बहुत बारीक बात है कि किसी के मन और उसकी वाणी पर भी अपने क्रियाकलापो द्वारा किसी तरह का व्याघात न पहुँचाया जाए।

हिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अगर उससे पूरे तौर पर बचना चाहे तो सासारिक जीवन के निर्वाह मे कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी। इसलिए जैनधर्म में इसके लिए दो प्रकार के धर्मों का उल्लेख किया है कि साधु तो सभी प्रकार की हिंसा से अपने आपको बचाए किन्तु श्रावक (गृहस्थ) को भी कम से-कम स्थूल हिंसा के कार्यों से तो अलग रहना ही चाहिए। जहाँ साधु के पहले महाव्रत मे सभी प्रकार की हिंसा का त्याग होता है, वहाँ श्रावक के पहले अणुव्रत के निम्न अतिचार बताये गये है,—१ क्रोधवश किसी भी त्रस जीव (एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते है) को कठिनतापूवक बाँधा हो, २ उसे घायल किया हो, ३ उनका चर्म-छेदन किया हो, ४ उन पर अधिक भार लादा हो, ५ उनका अन्न-पानी छुडाया हो। इस प्रकार के हिंसक काय करना श्रावक के लिए वर्जित है तथा इनमें से कोई कार्य उससे क्रोधवश, प्रमादवश या अन्य रीति से हो जाए तो उसके लिए उसे प्रतिक्रमण के रूप मे प्रायश्चित्त करना होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि एक जैन श्रावक को भी कम-से-कम अनावश्यक हिंसा नही करनी चाहिए और धीरे-धीरे उससे भी अपने आपको बचाते हुए साधु धम की ओर उन्मुख होना चाहिए। एक सद्गृहस्थ के नाते उसके पास जितने भी पशु या नौकर-चाकर हो इन अतिचारो मे स्पष्ट हो जाता है कि उनके साथ उसका कितना सहृदय व्यवहार होना चाहिए। क्योकि श्रावक को अपने मन, वचन व काया से भी किसी प्रकार उनके प्राणो को कलेशित नही करना चाहिए। आप इस बात पर ध्यान दें कि अहिंसा साधना की

इस प्राथमिक श्रेणी का भी पालन अगर पूरे तौर पर करना हो तो आप मे मानवता का कितना ऊँचा दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए।

इसके अलावा यह जो कुछ मैंने अभी बताया है, वह तो अहिंसा का नकारात्मक पहलू मात्र है कि हिंसा मत करो, किन्तु जैनधर्म मे इसका स्वीकारात्मक पहलू का भी विशद वर्णन है।

अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू है कि प्राणो का रक्षण करो। पहला सीढा तो यह सही है कि अपनी ओर से किन्ही भी प्राणो को कष्ट मत दो। लेकिन क्या ससार और समाज मे रहते हुए विवेकशील प्राणियो का इस नकारात्मक रूप से ही अपना कर्तव्य समाप्त हो जाता है ? नही होता, क्योंकि विभिन्न इन्द्रियो के प्राणियो म विवेक, सामर्थ्य या शक्ति की दृष्टि से काफी विभेद होता है और कम विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो को अधिक विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो की सहायता की अपेक्षा होती है तथा समान विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो को भी अपने जीवन-सरक्षण हेतु परस्पर सहायता की भी अपेक्षा होती है। आपके सामाजिक जीवन को ही देखिए—एक ही व्यक्ति अपने जीवन निर्वाह के सारे साधन स्वय नही रच सकता है। किसान धान पैदा करता है तो कोई उसे इधर-से उधर पहुँचाता है और फिर वह रसोईघर मे विविध क्रियाओ द्वारा खाद्य-योग्य बनता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों की भी अवस्था है। तात्पर्य यह कि समाज में सबके पारस्परिक सहयोग से प्रत्येक के जीवन का अनुपालन व सरक्षण होता है।

तो इसी दृष्टिकोण की बारीकियो पर अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू जाता है कि प्राणियों का उनके जीवन के अनुपालन व सरक्षण म सद्भाव से सहायता करो, जीओ और जीने दो। इस पहलू से सहानुभूति, दया, करुणा, सहयोग आदि सद्गुणो की जीवन मे पुष्टि होती है और इसी पुष्टि से मानवता का विकास होता है। हिंसा के निवृत्ति धर्म से भी अहिंसा का यह प्रवृत्ति धर्म अधिक ऊँचा माना गया है। एक व्यक्ति झूठ नहीं बोलता है, उससे ही उसका काम पूरा नही हो जाता। यह तो उसका नकारात्मक काम हुआ किन्तु सत्य की साधना उसकी स्वीकारात्मक तब होगी जबकि

वह भूठ न बोले और सत्य बोले। दोनों पहलुओं का पालन जरूरी होता है। मगर कोई भूठ तो न बोले लेकिन सत्य बोलने का अवसर आए और मौन रह जाए तो उसको आप क्या कहेंगे ? सत्य के प्रतिपादन के समय कोई मौन रखे तो वह अव्यक्त तौर पर ही सही किन्तु असत्य का प्रतिपादन करने वाला ही कहलायगा। उसी प्रकार हिंसा से तो कोई निवृत्ति ले ले किन्तु अहिंसा में प्रवृत्ति न करे, जीवन-संरक्षण की ओर लक्ष्य न बनाए तो उसे भी अहिंसक नहीं कहा जा सकता। अहिंसा की प्रवृत्ति ही अहिंसा के समुज्ज्वल स्वरूप को, विशेष रूप से सामाजिक जीवन में प्रकाशित कर सकती है। एक ओर अहिंसा हिंसा न निवृत्ति करना सिखाती है तो दूसरी ओर अन्याय, अत्याचार, शोषण, दमन और दुर्व्यवहार का प्रतिरोध करके असहाय प्राणी की रक्षा पर बल देती है और पहले से भी दूसरा कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि प्राणों को आप न मरने दें—यह ठीक है लेकिन उनके अस्तित्व में यदि उन्हें सुखपूर्ण बनाने की श्रद्धा न बनाई जा सके तो वह अहिंसा का पालन होना नहीं कहलाएगा। प्राणी बचे, उनकी रक्षा हो और उनके जीवन के समुन्नत बनने की स्थिति बन सके—ये सभी कर्तव्य अहिंसक के होने चाहिए।

अब अहिंसा के इन दोनों पहलुओं के महत्त्व पर इस दृष्टि से विचार कीजिए कि किसी भी प्राणी को कष्ट न दिया जाए, बल्कि उन प्राणों को यहाँ तक बन सके अपना संरक्षण भी दिया जाए। अहिंसा की इस साधना में साधक के मन, वचन एवं काया तीनों शुद्धिपूर्वक नियोजित होने चाहिए। मैं किसी के मन, वचन व काया को कष्ट न दूँ—यह तो हुई एक बात, लेकिन मेरा जो अहिंसा धर्म का पालन हो, वह मेरे शुद्ध मन द्वारा, वचन द्वारा तथा कर्म के द्वारा पूर्ण होना चाहिए। कोई काम दिखावे के लिए कहा जा सकता है या किया जा सकता है लेकिन अहिंसा की साधना दिखावे या लोक-व्यवहार से ऊपर अन्तर्हृदय में पैठनी चाहिए क्योंकि अन्तर् की प्रेरणा व सद्भावना से जो वचन कहा जाएगा या कर्म किया जाएगा, उसमें शास्त्र होगी तथा वही कार्य मन, वचन व काया की शुद्धि पर आधारित होगा।

अत अहिंसा की आराधना के लिए मन, वाणी और कर्म तीनों म एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है, या यो कह कि इन तीनो मे अहिंसा वृत्ति के सहज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का सुचारु रूप से पालन किया जा सकता है। कई भाइयो का जो यह कथन ह कि शरीर से मारने पर ही हिंसा होती है और इसलिए वे कहते है कि—

मन जाए तो जाने दे, मत जाने दे शरीर।
न खेंचेगा कमान तो, कसे लगेगा तीर॥

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है—यह कथन केवल एकांगी व बाह्य दृष्टिकोण को प्रकट करता है। जैन शास्त्रा का वचन है कि शरीर की हिंसा से भी मन की हिंसा बडी होती है, क्योंकि शारीरिक हिंसा का आधार भी मानसिक हिंसा ही होती है। इसके लिए शास्त्रों में एक उदाहरण आया है कि मानसिक हिंसा से आत्मा का कितना पतन हो सकता है।

उदाहरण यह है कि समुद्र मे एक विशालकाय मगरमच्छ था। उसका मुँह जब खुला रहता तो छोटे-बडे कई मच्छ उसमे घुसते व निकलते रहते थे। उस समय उस विशालकाय मगरमच्छ की आँख पर बैठा हुआ एक तदुल मच्छ जो चावल के दाने के बराबर होता है—सोचता है कि इस मगरमच्छ के मुख मे कितने छोटे-बडे मच्छ स्वत ही जा रहे है किन्तु यह कितना मूख है कि उन्हें निगल नही जाता। यदि मेरी ऐसी दशा होती तो मैं इन सब मच्छों को किसी भी हालत मे अपने मुँह से बाहर नहीं निकलने देता। इन्ही सकल्प-विकल्पो म बहता हुआ तन्दुल मच्छ वहीं उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो कहा गया है कि उसकी गति सातवीं नरक म होती है। अभिप्राय यह है कि केवल मानसिक हिंसा के कारण उस छोटे से प्राणी की भी ऐसी गति हुई। इसी प्रकार वाणी का घाव भी तलवार का घाव माना गया है। अत आप लोगो को गभीर चिन्तन करना चाहिए की अपने आपको अहिंसा धर्म के साधक कहने के पहले अपने जीवन को कितनी अद्भुत तैयारी होनी चाहिए।

अपने आर्यदेश भारत और उसमे भी राजस्थान, मध्यभारत आदि कितने ही अन्य प्रदेश हैं जहाँ जैन-सस्कारो के कारण काफी भाइयो मे इतनी दयालुता मिलेगी कि उनको कहा जाय कि अमुक धनराशि ले लो और बकरे को अपने हाथों से काट दो तो सभावना है कि वे ऐसा न कर सकेंगे, बल्कि छोटे छोटे प्राणियो की भी वे करुणा से रक्षा करते है। इस प्रकार शारीरिक हिंसा की तरफ उनको अपने मातृसस्कार, कुल परम्परा आदि की वजह से घृणा है किन्तु जरा मानसिक एव वाचिक हिंसा की तरह भी वे अपना ध्यान बढ़ाएँ तो अहिंसा के आन्तरिक आनन्द का उनमे आभास बढ सकेगा। जो भाई छोटे-छोटे जीवो को नही मारने की प्रवत्ति मात्र से अपने को कृतकृत्य समझते हैं, जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की तरफ उनका ध्यान ही नही जाता।

आज के आर्थिक युग मे जिस प्रकार से मनुष्य का शोषण और दमन होता है, वह भी एक ददनाक परिस्थिति है। अपने साथी मनुष्य का दिल दुखाना, उसके प्रति कटु व्यवहार करना कटुवचन कहना एव मन से ईर्ष्या, द्वेष एव प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र मे कइयो के प्रति बुरा चिन्तन करना, ये सब आज की ऐसी बुराइयाँ हैं जिनकी ओर अहिंसा के साधक का ध्यान सबसे पहले जाना चाहिए। अहिंसा के जो ये मार्ग हैं, उन पर चलकर ही आत्मा का विकास भली भांति साधा जा सकता है।

अब कल्पना कीजिए ऐसे समाज और विश्व की, जिसमे व्यक्ति यदि अहिंसा की साधना जनदृष्टि जो कि मानवीय दृष्टि है, के अनुसार करने लगे और उसी रीति से अपने पारस्परिक व्यवहार को ढालें तो सभव है कि यहाँ शोषण और दमन रह जाएँ, व्यक्तियो और राष्ट्रो के बीच शत्रुता एव कटुता रह पाए ? और इसका उत्तर है कि यह समव नही है। अहिंसा का पथ राजपथ है जिस पर चलकर इहलोक और परलोक दोनो का भली-भाँति निर्माण किया जा सकता है।

अहिंसा का साधन वीरो का है। कायर तो सबसे पहले मानसिक हिंसा से ही अधिक पीडित है। ऐसा व्यक्ति मानसिक हिंसा से दूसरो को तो गिरा

सके या नहीं, किन्तु अपने आपको तो बहुत गहरे अवश्य ही गिरा डालता है। साधु और श्रावक के भी अहिंसा व्रतों का जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनका भी उद्देश्य यही है कि मन, वाणी और काया से अधिकाधिक अहिंसा के दोनों पहलुओं का पालन किया जा सके।

इसलिए मेरा आप लोगों से कहना है कि यदि आप अपने आपको परमात्मा का वफादार सेवक बनाना चाहते हैं और इस सृष्टि में उत्कृष्ट समानता का वातावरण बनाना चाहते हैं तो समग्र रूप से अहिंसा का पालन कीजिए। जैनदृष्टि सभी आत्माओं में समानता की मान्यता रखती है क्योंकि मूल रूप में सबमें कोई भेद नहीं है—विकास की न्यूनाधिकता दूसरी बात है। तो आत्माओं की यह समानता अहिंसा की साधना से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त की जा सकती है। अहिंसा ही वह सशक्त साधन है जिसके द्वारा आत्म-समानता यानी परमात्मा वृत्ति के साध्य को साधा जा सकता है।

स्थान
अलवर (राजस्थान), ७ ८ १९५१

स्याद्वाद : सत्य का साक्षात्कार

आज आप लोगो के बीच यूरोप खड मे स्थित हगरी देश के प्रमुख विद्वान् डॉ० फेलिक्स वैली भी उपस्थित हैं। वैसे ये बौद्धधम के विशेषज्ञ हैं किन्तु जैन दशन के प्रति भी इनका अति आकषण व आदर है और उसी प्रेरणा से ये आज जैन सिद्धान्तो की विशेष जानकारी के लिए यहाँ आये हुए हैं।

जैनधम आत्म विजेताओ का महान् धर्म है। जिन्होने रागद्वेष आदि अपने आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त करके सयम एव साधना द्वारा निमल ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा को उत्थान के माग पर अग्रसर किया है, उन्हे हमारे यहाँ 'जिन' (विजेता) कहा गया है तथा इन विजेताओ द्वारा प्रेरित दशन का नामाकन जैन दर्शन के नाम से हुआ। अत यह दशन किसी व्यक्ति विशेष, वग विशेष या शास्त्र-विशेष की उपज नही, बल्कि इसका विकास उन आत्माओ द्वारा हुआ है, जिन्होने सारे सासारिक (जातीय, देशीय सामाजिक, वर्णीय आदि) भेदभावो व यहाँ तक कि स्वपर को भी विसर्जित कर अपने जीवन को सत्य के लिए होम दिया। यही कारण है कि इसका यह स्वरूप इसकी महान् आध्यात्मिकता व व्यापक विश्व बन्धुत्व का प्रतीक है।

जैनो का प्रधान साध्य सत्य का साक्षात्कार करना है, जिससे प्रकाश में जीवन का कण-कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए जैनदशन के सभी सिद्धान्त साधन रूप बनकर उक्त साध्य की ओर गमनशील बनाते हैं। इसमे भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है, क्योकि समस्त प्राणी समूह की सेवा के लिए यह अनिवाय है कि सासारिक प्रलो-भनों को छोडकर आत्मवृत्तियो का शुद्धिकरण किया जाय, जिसके बिना

इस अनवरत संघर्षशील जगत् के बीच स्व पर-कल्याण सम्पादित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में जन-दर्शन विश्वशान्ति के साथ साथ व्यक्तिशान्ति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

तो मैं यहाँ पर जैन दर्शन की मौलिक देन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद पर कुछ विशेष रोशनी डालना चाहता हूँ। जिस प्रकार सत्य के साक्षात्कार मे हमारी अहिंसा स्वार्थ संघर्षों को सुलझाती हुई आगे बढ़ती है, उसी प्रकार यह स्याद्वाद जगत मे वैचारिक संघर्षों की अनोखी सुलझन प्रस्तुत करता है। आचार मे अहिंसा और विचार मे स्याद्वाद—यह जनदर्शन की सर्वोपरि मौलिकता रही है। स्याद्वाद को दूसरे शब्दो मे वाणी व विचार की अहिंसा के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

स्याद्वाद जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो म से एक है। किसी भी वस्तु या तत्त्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमे इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा। एक ही वस्तु या तत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है और इसलिए उसमें विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं। अत उसके सारे पक्षों व दृष्टिकोणो को विभेद की नहीं, बल्कि समन्वय की दृष्टि से समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धान्त के गहन चिन्तन के आधार पर ही सभव हो सकता है। आज के विज्ञान ने भी अब तो सिद्ध कर दिया है कि एक ही वस्तु की कई बाजुएँ हो सकती हैं और उसमे भी ऐसी बाजुएँ अधिक होती हैं, जिनका स्वरूप अधिकतर प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही रहता है। अत इन सारे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पक्षों को समझने के बाद ही किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है।

इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु विशेष के एक ही पक्ष या दृष्टिकोण को उसका सर्वांग स्वरूप समझकर उसे सत्य के नाम से पुकारना मिथ्यावाद या दुराग्रह का कारण बन जाता है। विभिन्न पक्षों या दृष्टिकोणों के प्रकाश मे जब तक एक वस्तु का स्पष्ट विश्लेषण न कर लिया जाय, तब तक यह नही कहा जा सकता कि हमने उस वस्तु का सर्वांग

स्वरूप समझ लिया है। अत किसी वस्तु को विभि न दृष्टिकोणो के आधार पर देखने, समझने व वर्णित करने से विज्ञान का नाम ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद (Science of Versatility or Relativity) कहा गया है।

जैनदर्शन का यह स्याद्वादी दृष्टिकोण किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को हृदयगम करने के लिए परमावश्यक साधन है। इसके जरिये सारे हठवादी या रूढिवादी विचारो को समाप्ति हो जाती है तथा एक उदार दृष्टिकोण का ज म होता है, जो सभी विचारो को पचा कर सत्य का दिव्य प्रकाश शोधने मे सहायक बनता है। स्याद्वाद का यह सिद्धा त हमारे सामने सारे विश्व की वैचारिक और तदुत्प न सार्वदेशिक एकता सुनहला चित्र प्रस्तुत करता है। मैं यह साहस के साथ कहना चाहूँगा कि यदि इस सिद्धा त को विभि न क्षेत्रो मे रहे हुए ससार के विचारक समझने की चेष्टा करें तो कोई स देह नहीं कि वे अपनी सघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोडकर एक दूसरे के विचारो को उदारतापूर्वक समझकर उनका शा तिपूर्ण सम वय करने की ओर आगे बढ सकेंगे।

इससे पूर्व कि स्याद्वाद के विशिष्ट महत्व को विस्तार से समझा जाय, जगत के वैचारिक सघर्ष की पृष्ठभूमि को पूर्णतया समझ लेना जरूरी है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज मे एक विशिष्ट व उच्च स्था प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है स्वय ही और स्वत त्रतापूर्वक भी, अत उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारो की विभि न दृष्टियाँ ससार मे ज म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभि न लोग अपनी अपनी अलग अलग दृष्टियो से सोचना शुरू करते हैं। यहाँ तक तो विचारो का क्रम ठीक रूप मे चलता है। कि तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभि न दृष्टियो मे सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नही झुकते। जिसने एक वस्तु की जिस विशिष्ट दृष्टि को सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एका तिक

दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्य ज्ञान की ओर बढ़ा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव मे विद्वेषपूर्ण सघर्ष के जटिल कारणो के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। तो हम देखते हैं कि एकांगी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर सघर्ष को प्रचारित करने मे जुट पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति मे स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हें बताना चाहता है कि सत्य के टुकडो को पकड़कर उन्हें ही आपस मे टकराओ नहो, बल्कि उन्हें तरकीब से जोडकर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पड़ो। अगर विचारो को जोडकर देखने की वृत्ति पैदा नही होती व एकांगी सत्य के साथ ही हठ को बांध दिया जाता है तो यही नतीजा, होगा कि वह एकांगी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या मे बदल जायगा। क्योंकि पूर्ण सत्य को न समझने का हठ करना सत्य का नकारा करना है। अत यह आवश्यक है कि अपने दृष्टि बिन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टि बिन्दुओ पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमे रहे हुए सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टियो से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक सघर्ष को मिटाकर उन विचारो को आदर्श सिद्धान्तो का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

सर्व साधारण को स्याद्वाद की सूक्ष्मता का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए मैं एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा हूँ।

एक ही व्यक्ति अपने अलग अलग के रिश्तों के कारण पिता, पुत्र, काका, भतीजा, मामा, भानजा आदि हो सकता है। वह अपने पुत्र की दृष्टि से पिता है तो इसी तरह अपने पिता की दृष्टि से पुत्र भी। ऐसे भी अन्य सम्बन्धों के व्यवहारिक उदाहरण आप अपने चारों ओर देखते हैं। इन रिश्तों की तरह ही एक व्यक्ति में विभिन्न गुणों का विकास भी होता है। अत यही दृष्टि वस्तु के स्वरूप मे लागू होती है कि वह भी एक साथ सतअसत, नश्वर अनश्वर, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष, क्रियाशील अक्रियाशील नित्य अनित्य गुणों वाली हो सकती है। जैसे एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व व पितृत्व दो विरोधी गुणों का

सद्भाव सभव है, क्योंकि उन गुणो को हम विभिन्न दृष्टियो से देख रहे हैं। उसी प्रकार एक ही वस्तु विभि न अपेक्षाओ से नित्य भी हो सकती है तथा अनित्य भी। जब स्थूल सासारिक व्यवस्था भी सापेक्ष दृष्टि पर टिकी हुई है तो वस्तु के सूक्ष्म स्वरूप को हठ मे जकडकर एकान्तिक बताना कभी सत्य नही हो सकता। यह ठीक वैसा ही होगा कि एक ही व्यक्ति को अगर पुत्र माना जाता है तो वह पिता कहला नही सकता और इसकी असत्यता प्रत्यक्षत सिद्ध है। चाहे तो यह सासारिक व्यवस्था ले लीजिए या सिद्धातो की स्वरूप विवेचना—सब सापेक्ष दृष्टि पर अवलम्बित है। अगर इस दृष्टि को न माना जायगा व सबन्धित सारे पक्षो के आधार पर वस्तु के स्वरूप को न समझा जायगा तो एक क्षण मे ही जागतिक व्यवस्था मिट सी जायगी। आश्चर्य यही है कि स्थूल रूप से जिस सापेक्ष दृष्टि को अपने चारा ओर सासारिक व्यवहार मे बेचा जाता है, उसी सापेक्ष दृष्टि को वैचारिक सूक्ष्मता के क्षेत्र मे भुला दिया जाता है और फलस्वरूप व्यथ के विवाद उत्पन्न किये जाते हैं। एक क्षण के लिए सोचिये कि अगर एक व्यक्ति को 'एकान्त रूप से' पिता ही समझा जाय तो यह कथन कितना बेहूदा होगा कि वह पिता ही है यानी सबका पिता है, आपके पिता का भी पिता है। अत साफ है कि एकान्त दृष्टिकोण को सामने रखकर उसके सम्बन्धित अ य दृष्टिकोणो को न समझने का हठ करना भी ठीक इसी तरह बेहूदा कहा जायगा। एकान्त दृष्टिकोण एक तरह से सत्य ज्ञान को विशृखलित करने वाला है।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि एक ही वस्तु मे दो विरोधी धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं? शकराचाय ने यह आपत्ति उठाई थी कि एक ही पदाथ एक साथ नित्य और अनित्य नहीं हो सकता जैसे कि शीत और ऊष्ण गुण एक साथ नही पाए जाते किन्तु शका ठीक नही है। विरोध की शका तो तब उठाई जा सकती है जबकि एक ही दृष्टिकोण—अपेक्षा से वस्तु को नित्य भी माना जाय और अनित्य भी। जिस दृष्टिकोण से वस्तु को नित्य माना जाय, उसी दृष्टिकोण से यदि उसे अनित्य भी माना जाय तब

तो अवश्य ही विरोध होता है परन्तु भिन्न भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न गुण मानने मे कोई विरोध नही आता, जैसे एक व्यक्ति उसके पुत्र की अपेक्षा से पिता माना जाता है व पिता की अपेक्षा से पुत्र, तब पितृत्व व पुत्रत्व के दो विरोधी धर्म एक ही व्यक्ति मे अपेक्षा भेद से रह सकते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं होता। विरोध तो तब हो जब हम उसे जिसका पिता माना है, उसी का पुत्र भी मानें। इसी तरह भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्म मानने मे कोई विरोध नही होता। मैं यहाँ किसी एक ही दिशा मे बैठा हुआ हूँ। लेकिन मेरे सामने आप लोग अलग-अलग दिशाओं में मुख किए बैठे हैं और अत आप लोग अपनी अपनी अपेक्षा से मुझे अलग अलग दिशा मे बैठा हुआ बतला सकते हैं। जो मेरे सामने बैठे हैं, उनकी अपेक्षा से मैं पूर्व में बैठा हुआ हूँ और पीछे वालो की अपेक्षा से पश्चिम मे तथा इसी तरह दायें और बायें बैठे वालो की अपेक्षा से दक्षिण व उत्तर म। इस तरह अपेक्षा भेद से मुझे अलग अलग दिशा में बैठा हुआ बतलाने म कोई विरोध पैदा नही होता। एक ही वस्तु छोटी और बडी दोनो हो सकती हैं परन्तु उनसे बडी व छोटी वस्तु की अपेक्षा से। अत विरोध की शंका प्रकट करने मे शंकराचार्य ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को सम्यक प्रकार से समझने का प्रयास नही किया प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद न तो विरुद्ध धर्मवाद है और न संशयवाद। वह तो वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाला यथार्थवाद है।

जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने वाला व नष्ट होने वाला और फिर भी स्थिर रहने वाला बताया गया है। "उत्पाद व्ययध्रौव्य युक्त सत्" यह पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या है। आश्चर्य मालूम होता है कि नष्ट होने वाली वस्तु भला स्थिर कैसे रह सकती है, किन्तु स्याद्वाद ही इसको सुलझा देता है। ये तीनो पर्यायें सापेक्ष दृष्टि से कही गई है। एक दूसरे के बिना एक दूसरे की स्थिति बनी नहीं रह सकती है। उदाहरण स्वरूप समझ लीजिये कि एक सोने का कडा है और उसे तुड़ा कर जंजीर बनाली गई तो वह सोना कडे की अपेक्षा से नष्ट हो गया एक

जजीर की अपेक्षा से उत्पन्न हो गया, किन्तु स्वर्णत्व की अपेक्षा से वह पहले भी था और अब भी है, वह उसकी स्थिर स्थिति हुई। पदार्थ की पर्याय बदलती है। उसमे पूर्व पर्याय का विनाश व उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती रहने पर भी पदार्थ का द्रव्य स्वरूप उसमे कायम रहता है। इस तरह पर्यायार्थिक नय (दशा परिवर्तन) की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्यार्थिक नय (स्थिर स्थिति) की अपेक्षा से नित्य भी है। यही स्याद्वाद का मार्मिक स्वरूप है।

स्याद्वाद का यह स्वरूप एक ओर जैसे सभी दार्शनिक विवादो को समाप्त कर देता है, उसी तरह दूसरी ओर जगत के समस्त वैचारिक सघर्षों का भी समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। आज जब कि भीषण रक्तपात, वैर विरोध, घृणा, हिंसा, वर्ग विद्वेष, साम्प्रदायिकता व स्वार्थ-परता के लम्बे युग के अत्याचारो से विश्व मे भयकर अशान्ति फैली हुई है, मनुष्यो के मस्तिष्को का शान्तिपूर्वक एकीकरण विश्व शान्ति का सबसे बडा योगदान साबित हो सकता है। दो दो विश्व युद्धो के वीभत्स ताडवकारी दृश्य आज भी सबकी आँखो के सामने घूम जाते हैं—वह भुखमरी, वह बर्बरता और सबसे बडा हिरोशिमा (जापान) पर फेंके गये उस अणुबम का विनाशक धडाका। परन्तु आश्चर्य कि भले ही ऊपर से शान्तिवार्ताएँ चल रही हैं, युद्ध समाप्ति के नारे लगाये जा रहे हैं, किन्तु अणुबम से भी भयकर उद्‌जन बमो व नत्रजन बमो का उत्पादन किया जा रहा है और उस समय के महा-विनाश की कल्पना तक नही की जा सकती, जब कभी दुर्भाग्य से ऐसे शस्त्र काम में लाये जाएगे।

दूसरे अब जो अन्दर ही अन्दर अशान्ति की ज्वाला बढती जा रही है, उसे एक तरह से दिमागों या विचारो के युद्ध का ही नाम दिया जा सकता है। यह युद्धों का नया तरीका है और सबसे अधिक खतरनाक तरीका भी। जब तक विचारो की लडाई समाप्त नही होगी, तब तक इस बात की शका कतई नही मिट सकती कि दुनिया के पटल पर से युद्धो का गौरव भी खत्म हो सकता है। विचारों की कशमकश समाप्त होने पर ही मानव

समाज का मस्तिष्क सन्तुलित व समन्वित हो सकेगा और तभी वह अपनी बर्बरता के पिछले इतिहास को हमेशा के लिए भुला सकेगा।

आज इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि विचारों की हिंसक प्रतिद्वन्द्विता के कुपरिणामों को संसार अनुभव भी करने लगा है और उसके फलस्वरूप चाहे नेता लोग न चाहते हुए भी बोल रहे हों पर कहा जा रहा है कि साम्यवाद व पूँजीवाद दोनों विचार प्रणालियाँ शान्तिपूर्वक एक साथ चल कर अपनी अपनी व्यवस्थाएं कायम रख सकती हैं। यह अनुभूति इस सत्य की ज्वलन्त प्रतीक है कि अब मनुष्य विचारों के दुःखद संघर्ष को सहन करते रहने की स्थिति में नहीं है और इसलिए मानव समाज को अब स्याद्वाद के समन्वयवादी व अपेक्षावादी सिद्धान्त की ओर झुकना ही होगा। यही सत्य को साक्षात करने का रास्ता है और इसी में मानव जाति के शान्तिपूर्ण विकास का रहस्य छिपा हुआ है।

स्याद्वाद के सिद्धान्त को जैनदर्शन का हृदय कहा जाता है। जैसे हृदय शुद्ध किया गया खून अंगों में समान रूप से संचारित करता न रहे तब तो शरीर का टिकना कठिन ही होगा। उसी तरह स्याद्वाद सभी सिद्धान्तों को समझने में समन्वय की उदार भावना की बराबर प्रेरणा देता रहता है। जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि वह अपनी मान्यता के प्रति भी हठवादी (दुनयी) नहीं है। वहाँ तो सत्य से प्रेम किया जाता है और निरन्तर अपने स्वरूप को सत्य के रंग में रंगा रखने में परम सन्तोष की अनुभूति की जाती है। सत्य की आराधना जैनदर्शन का प्राण है। वह न अपनी मान्यता के विषय में दुराग्रही है और न दूसरों की मान्यताओं का किसी भी रूप में तिरस्कार करना चाहता है। वह तो केवल यह चाहता है कि समस्त विश्व पूर्ण सत्य के स्वरूप को समझने के सही राह पर ही आगे बढ़े।

स्याद्वाद एक तरह से संसार के समस्त विचारकों व दार्शनिकों का आह्वान करता है कि सब अपने आपसी हठवाद व एकांगी दृष्टिकोणों के कलह को त्याग कर एक साथ बैठो तथा एक दूसरे की विचारधाराओं को

स्पष्ट रूप से आदान प्रदान करो। इस तरह जब सामूहिक रूप से व शुद्ध जिज्ञासा व निर्णय बुद्धि से सम्मिलित विचारविमर्श किया जायगा, उनका मंथन होने लगेगा तो जरूर ही छाछ छाछ पेंदे में रह जायगी और साररूप मक्खन ऊपर तैर कर आ जायगा। तब स्याद्वाद का संदेश है कि उन विचारधाराओं के समूह में से असत्य अंशों को निकाल कर अलग कर दो, हठवाद, एकान्तवाद और अपने ही विचारों में पूर्ण सत्य मानने की दुराग्रही वृत्तियों को पूरे तौर पर तिलांजलि दे दो। इसके बाद सबकी मस्तिष्क और हृदय की शक्तियों के सम्मिलित सहयोग से सत्य के भिन्न-भिन्न खंडों का चयन करो उन्हें जोड़ कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर उन्मुख होओ। सूंड ही हाथी है, पांव ही हाथी है या पीठ ही हाथी है, मान सकते रहने से कभी भी हाथी का असली स्वरूप समझ में नहीं आयगा बल्कि ऐसा हठाग्रह करने पर तो ऐसा मानना एकांगी सत्य होने पर भी हाथी के पूर्ण स्वरूप की दृष्टि से असत्य ही कहलायगा। अतः सिद्धान्तों और विचारों के क्षेत्र में इसे गंभीरतापूर्वक समझने व सुलझाने की जरूरत है कि सूंड ही हाथी नहीं है। पांव हाथी नहीं है या पीठ ही हाथी नहीं है, बल्कि ये सब अलग अलग हिस्से मिलकर पूरा हाथी बनाते हैं। आज उन अंधों की तरह हाथी देखने की मनोवृत्ति चल रही है—क्या तो दार्शनिक क्षेत्र में और क्या वैचारिक क्षेत्र में उसे इस स्याद्वाद के प्रकाश में सुष्ठु बना देने का आज महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। क्योंकि अगर वर्तमान में फैला हुआ विचार संघर्ष और अधिकाधिक जटिलता का जामा पहनता गया तो आश्चर्य नहीं कि एक दिन पिछले युद्धों से भी अधिक खौफनाक युद्ध संसार व मानव जाति की विकसित विचारणीय संस्कृति को बुरी तरह तहस-नहस कर डालेगा।

विश्व शांति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व संस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियों के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बंधित है। इस प्रश्न की सही सुलझन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है और विश्व शान्ति की नींव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियों में

सबसे प्रमुख यही उपाय है कि चारों ओर फैला हुआ विचारों का वितंडा विभेद शान्त किया जाय और एक दूसरे को समझने में उदार दृष्टिकोण का प्रसार हो सके ऐसे व्यापक वातावरण का सर्जन जनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त की सुदृढ़ आधारशिला पर ही किया जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति व सामूहिक रूप से विभिन्न राष्ट्र व समाज इस स्याद्वाद दृष्टि को अपने वैचारिक क्रम में स्थान देने लगे तो विश्व शान्ति की कठिन पहेली सहज ही में शान्ति व सद्भावना से हल की जा सकती है। इस महान् सिद्धान्त के रूप में जैनधर्म विश्व की बहुत बड़ी सेवा बजाने में समर्थ है, क्योंकि अन्य दर्शनों की तरह जैनधर्म कभी भी साम्प्रदायिकता के बन्धनों में नहीं बंधा और इसलिए अपनी व्यापकता व विशालता को निभाता हुआ विश्व के समस्त प्राणियों के हितसम्पादन का महान् सन्देश गुंजायमान करता रह सका। जैनदर्शन में अन्य सिद्धान्तों की विवेचना अन्यत्र की गई है, किन्तु यदि हृदय स्वरूप इस एक सिद्धान्त पर ही पूरा पूरा ध्यान दिया जाय तो कई विषम समस्याएँ सुलझ जायेंगी और तब मानवता के विकास का मार्ग निष्कंटक हो सकेगा।

उपसंहार रूप में मुझे यही कहना है, जो कि इस शास्त्रवाक्य में कहा गया है— "अत्थि सत्थेण परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं"

सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवों व विभिन्न प्रयोगों का कर्मस्थल है, जहाँ हम उनके जरिये सत्य की साधना करते हैं, क्योंकि सत्य ही मुक्ति है, ईश्वरत्व की प्राप्ति है। जीवन के आचार विचार की सुघड़ता व सत्यता में व्यक्ति, समाज व विश्व की शान्ति रही हुई है तथा इसी चन्द्रमुखी शान्ति के शुभ्र वातावरण में ऊँचे से ऊँचा आध्यात्मिक विकास भी सबके लिए सरल बन सकता है। अतः विचारों की उदारता, पवित्रता शान्तिपूर्ण प्रेरणा की जागरूकता के लिए आज स्याद्वाद के सिद्धान्त को बड़ी बारीकी से समझने, परखने व अमल में लाने की विशेष आवश्यकता आ पड़ी है जिसके लिए मैं आशा करूँ कि सब तरफ से उचित प्रयास अवश्य किये जायेंगे।—महावीर भवन, बारादरी, चाँदनी चौक, दिल्ली

कर्मवाद का अन्तर्रहस्य

' सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय "

मनुष्य स्वय ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है—इस तथ्य को जब जब उससे भुला देने की कोशिश की गई, तब तब मानव समाज में शिथिलता व अकमण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य में नही बन पडता, चाहे वैसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौंपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहाँ भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वय ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बताकर उसको गतिशील नही बनाया जा सकता है।

सुविधि जिनेश्वर की की गई उपयुक्त प्रार्थना मे भी इसी तथ्य को प्रकाशित किया गया है कि स्वय आत्मा ही अपने पुरुषार्थ से विकास करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त करता है। ईश्वरत्व कोई ऐसा अलग पद नही है, जहाँ कभी भी आत्मा की पहुँच न हो या ईश्वर ही धरती पर अवतार लेकर महापुरुष के रूप मे जगदुद्धार करता है तथा साधारण आत्मा की वह हस्ती नही, ऐसी मान्यता जैनधम नही रखता। वह तो हर आत्मा की महान शक्ति में विश्वास करता है। जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वय भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप मे अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैनधर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का मूलाधार सिद्धान्त है, कर्मवाद का सिद्धान्त।

भारत की नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, पौराणिक, योग आदि अन्य सभी दार्शनिक परम्पराए आत्मा और परमात्मा के बीच मौलिक भेद को स्वीकार करती हैं। उनका मानना है कि आत्मा विकास करता है, निर्वाण

भी प्राप्त करता है और ईश्वर के स्थान मे प्रवेश भी करता है, किन्तु स्वय ईश्वर नही बनता। वह सिर्फ ईश्वरीय अश बनकर ही निवास करता है। उनके इस कथन की पृष्ठभूमि यह है कि ईश्वर तो सिर्फ एक है व एक ही रहेगा। परन्तु जैनधर्म इस दृष्टि को स्वीकार नही करता और उसका कारण ईश्वर को मानने के मूलरूप मे विभेद का अस्तित्व है। ईश्वर एक है व एक रहेगा, ऐसा अन्य दर्शन मानते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता भी है। अत ईश्वर अनेक मानने मे आपत्ति पड़ती है। लेकिन जैनधर्म शुद्ध मानव-विकासवाद की आधारशिला पर स्थित है और इसलिए वह ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व को नही मानता। परिणामस्वरूप जैनदर्शन में ईश्वरत्व एक पद माना गया है जो आत्मा के चरम विकास का सूचक है और इसलिए मुक्तात्मा ही ईश्वर है। उसके समान ही सभी मुक्तात्माएँ भी शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकल्प रूप ग्रहण कर लेती हैं। आत्म द्रव्य की मौलिक अवस्था की अपेक्षा आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही। सिद्ध और ससारी जीवो के बीच का भेद वास्तविक नही, सिर्फ कर्ममूलक है और इस भेद को साधना की शुद्धता से पाटा जा सकता है।

अत कर्मवाद का सिद्धान्त इस सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप मे ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यों न हो, असभव नही। वह स्वय कर्ता है और फल भोक्ता है। अब इस कर्मवाद की व्यवस्था का विश्लेषण किया जाय, उससे पूर्व आत्मा के स्वरूप व उसमे होने वाले अन्तर को इस जगत क्रम की पादवभूमि मे समझ लेना आवश्यक है।

जैनदर्शन का यह मतव्य है कि आत्मा का मूलस्वरूप परम विशुद्ध अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख एव शक्तिमय तथा निरजन, निर्विकल्प, मुक्त और स्वतत्र है। अपने मूलरूप मे आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमान है किन्तु जीवात्मा के अपने अकर्त्तव्यों के बादल एकत्रित हो हो कर आभा को ढकते रहते हैं। यह क्रम सृष्टि मे चलता रहता है, जिसकी कोई आदि नहीं। जैनधर्म का मानना है कि सृष्टि का क्रम आदि व अन्त विहीन है और

इसलिए ईश्वर की रचना नही। सृष्टि तो स्वत परिणमनशील है। जीव और जड के सयोग से इसकी गति चलती रहती है और यह सयोग ही विभिन्न कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कारण तथा तदनुसार फलाफल का परिणाम होता है। तो इस सृष्टि की गति मे आत्मा पर आवरण चढता जाता है और उसी आवरण को धीरे धीरे साधना के बल पर जब काटना शुरू किया जाता है तो एक दिन वही आत्मा अपनी विशुद्ध स्थिति मे पहुँच जाता है एव वही विशुद्ध स्थिति मुक्त या ईश्वरत्व की स्थिति है।

तो हमने देखा कि ससार मे गति करते हुए जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप से ढका हुआ रहकर उससे विस्मृत व विशृखलित-सा बन जाता है और उसकी इस विशृखलता की स्थिति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही होता। अत यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उस विशृखलता को बनाने और मिटाने वाली कौन शक्ति है? वास्तव मे वह शक्ति तो चेतन ही है किन्तु उस विशृखलता का लेखा-जोखा बनाये रखने वाले जड कर्मपुद्गल होते हैं, जिनके आधार पर जीवो को उनके कार्यों का यथावत् परिणाम मिलता रहता है। इस तरह यह कर्मवाद का सिद्धान्त चेतन की कर्मण्यता व आत्म निष्ठा की ओर सजग रखता है किन्तु उसके साथ ही कर्मपुदगलो के बन्ध का विश्लेषण करके उसकी सजगता को स्थायी बनाये रखना चाहता है। अपना अकर्त्तव्य कभी भी मिट नही जायगा, बल्कि आवरण की एक परत बनकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को घेरता रहेगा और जब तक एक एक करके वे आवरण की सब परतें न कट जायेंगी, आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप मे नही पहुँच सकता, ऐसी विचारणा से व्यक्ति के अपने कार्यों मे एक ओर जहाँ सन्तुलन व सयमन आता है, वहाँ उसी मात्रा मे कर्मण्यता का उत्साह व पुरुषार्थ की प्रदीप्तता भी छा जाती है।

कर्मवाद की विचारणा के पीछे जो मजबूती है, वह स्वत प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोडा जाय, जैसा कि अन्य दर्शन मानते है तो वही आश्रित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य मे से स्वाश्रय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर

जीव पर अच्छा बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। जैसे नेगेटिव और पोजिटिव तत्व जब तक अलग अलग रहते हैं तब तक उनसे बिजली पैदा नहीं होती, किन्तु जब ये दोनों तत्व मिल जाते हैं तो एक शक्ति बिजली पैदा हो जाती है। आज के विज्ञान ने तो इस तथ्य को एक नही कई प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है। जड स्वय गतिशील नहीं होता किन्तु चेतन द्वारा सम्बन्धित होने पर प्रभावशील हो जाता है। एक मदिरा की बोतल भरी है पर उस रूप मे वह मनुष्य पर कोई असर नही कर सकती, किन्तु ज्यों ही मनुष्य उसे पी जाय, उसका असर साफ होने लगेगा और आपको मदिरा की शक्ति स्पष्ट दीखने लगेगी। किन्तु यह ध्यान मे रखने की कोई चीज है कि उस शक्ति की उत्पत्ति मदिरा और मनुष्य के सम्पर्क से हुई। अत कर्मफल का जुनाव जीव और कर्म पुद्गल के सम्पर्क का ही परिणाम है, उसके बीच ईश्वर को डालना तो उसको ईश्वरत्व से छुटाकर सासारिकता के पचड़े मे डालना है। क्योंकि अगर ईश्वर को फलदाता माना जाय तो उसे सारे सासारिक मनोविकारो म आना पड़ेगा, कारण कि सृष्टा भी तो वही माना जाता है। वही शेर को भी पैदा करे और बकरी को और उसी की प्रेरणा से शेर अपने शिकार को ढूंढता चलता हुआ बकरी के पास पहुँचा जाय और फिर उसी की प्रेरणा से वह उसे खा जाय, तब फिर ईश्वर खड़ा होकर शेर को बकरी की हत्या का कुफल दें, ऐसा व्यवस्थाक्रम समझ म न आने लायक ही भ्रम प्रतीत होता है। ईश्वर का स्वरूप रागद्वेष रहित, विकारहीन, परम दयालु, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान माना गया है, परन्तु अगर उसे अनुग्रह, निग्रह करने वाला, ऊँच-नीच पैदा करने वाला व उन्हें कार्याकार्य दोनों की प्रेरणा देने वाला और फिर उनके लिए ही दड विधान करने वाला माना जायगा तो इस सृष्टि के सारे दुर्गुणों, सारे पापों और सारे विकारों का उत्तरदायित्व उसके ही मत्थे मढ़ा जाना चाहिए। यही नहीं किन्तु अपनी ही रचना का फल निर्दोष प्राणियो को भुगताने की एवज में उसे क्रूर भी कहा जाना चाहिए। दूसरे अगर ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है तो कर्मों का प्राधान्य ही हुआ, ईश्वर का ईश्वरत्व ही क्या? किन्तु वास्तव

मे ऐसा व्यवस्थाक्रम है नही और ईश्वर फलदाता के रूप मे समझा नही जाना चाहिए। जीव स्वय कर्मों का कर्त्ता है और स्वय फल का भोक्ता है, यही सुसगत सिद्धान्त है। कहा भी है—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥

अर्थात् जीव स्वय जो पहले कर्म करता है, उसी का शुभाशुभ फल प्राप्त होता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया गया शुभ या अशुभ फल उसे मिले तो उसके किये हुए कर्म निरर्थक हो जाते हैं।

यहाँ एक शका की जा सकती है कि जब शुभ कर्म का फल शुभ ही तथा अशुभ कर्म का फल अशुभ ही होता है फिर कई लोग शुभ कर्म करते हुए अशुभ फल भोगते क्यो देखे जाते हैं व इससे विपरीत भी। इसका समाधान यह है कि तीनो कालो की पारस्परिक सगति पर कर्मवाद अवलम्बित है। वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर व भविष्य का वर्तमान के आधार पर होता है। अत शुभ कर्म का फल अशुभ व इसके विपरीत अवस्था मे यह मानना चाहिए कि वह फल उसके पूर्वजन्मकृत कर्मों का मिल रहा है। जो अभी किया जा रहा है, उससे उसके भविष्य का निर्माण होगा।

अब जैन दर्शन की मान्यतानुसार कर्म के स्वरूप पर मैं आपके सामने कुछ रोशनी डालना चाहूँगा।

प्रमुखतया कर्म के दो रूप माने गये हैं—(१) भावकर्म और (२) द्रव्यकर्म। भावकर्म आत्मगत सस्कार विषयो की उपज है जैसे मोह व रागद्वेष आदि जो अज्ञान के कारण आत्मा की वैभाविक अवस्था के द्योतक होते हैं। जिनको वेदान्त मे माया, साख्य मे प्रकृति, बौद्ध मे वासना, नैयायिक मे अज्ञान आदि नामो से कहा गया है। इन भावकर्मों के द्वारा आत्मा अपने आस-पास रहे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओ को आकृष्ट करता है

और उन्हें विशिष्ट रूप देता है, जिन्हें द्रव्यकर्म या कार्माण शरीर कहा जाता है। जीव की रागद्वेष रूप जैसी परिणति उस समय होती है, उसके अनुसार उन भौतिक सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मफल देने वाली शक्ति उसी प्रकार पैदा होती है जिस तरह संघर्षण से विद्युत। ऐसी कर्मफल शक्ति युक्त कार्माण वर्गणा को 'कर्म' कहते हैं। आत्मा इन सूक्ष्म परमाणुओं को अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट करता है जिस प्रकार ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन पर बोले गये शब्दों को बिजली के जरिये फेंके जाने से वे सारे वायुमण्डल से सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक क्रिया का उसके आसपास के वातावरण में प्रसार होता है जीव भी जब मन, वचन या काया से कोई क्रिया करता है तो उसके समीपवर्ती वातावरण में हलचल मचती है और कार्माण वर्गणा के सूक्ष्म परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इस तरह यह कर्मवाद की प्रक्रिया का क्रम चलता है।

इस प्रक्रिया द्वारा जो पुद्गल आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, वे ही जीव को शुभाशुभ फल का संवेदन कराते हैं तथा जब तक ये सम्बद्ध रहते हैं, आत्मा को मुक्ति की ओर प्रयाण करने से रोकते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में भी आत्मा को ये ही भटकाते हैं तथा ये ही बादल बनकर आत्मा के सूर्य को आच्छादित किये रहते हैं।

कर्मवाद का यह सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन की ही मौलिक देन है। अन्य दर्शनों में जन्मजन्मान्तर की परम्परा का वर्णन है किन्तु कार्माण शरीर की सूक्ष्म मान्यता अन्यत्र नहीं मिलती। हाँ, वेदान्त में माना गया लिंग शरीर व न्याय वैशेषिक परम्परा का अणु रूप मन इसी मान्यता की अस्पष्ट छाया अवश्य हैं। जैन साहित्य में कर्म प्रवृत्ति की अमुक काल तक फल देने की शक्ति, फल देने की तीव्रता या मन्दता और आत्मा के साथ बँधने वाले कर्म परमाणुओं का प्रमाण जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध कहते हैं आदि का बड़ा ही गहरा विशद वर्णन किया गया है, जिन्हें समझने के लिए काफी विस्तार की आवश्यकता होगी।

कम के विभिन्न भेदो को समझने के पूव यह समझना जरूरी है कि वे भेद कैसे पैदा होते हैं, जब कि कार्मण वगणा के पुद्गल तो एक से ही होते हैं ?

जिस प्रकार भोजन आमाशय मे जाकर पाचन क्रिया द्वारा विभिन्न रूपो में बदल जाता है, उसी प्रकार जीवन की भावना के अनुसार इन कामण पुद्गलो मे भी विभिन्न प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है और वे विविध शक्तियाँ आत्मा की विभिन्न शक्तियो को आच्छादित कर देती हैं। अत आत्मा की विभिन्न शक्तियां, गुणो को आच्छादित करने के कारण उन गुणो के आधार पर कर्मो का वर्गीकरण किया गया है। इस तरह कर्मों के भद आठ माने गये हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कम—जो कम सब पदार्थों को स्पष्टतया जानने की आत्मा की शक्ति को ढंक लेता है तथा इस आच्छादन के गाढेपन के अनुसार ही आत्मा की ज्ञानशक्ति न्यूनाधिक हो जाती है। ज्यों-ज्यो आवरणों की परतें कटती जायेंगी, ज्ञानशक्ति अधिकाधिक प्रकाशित होती जायगी।

(२) दशनावरणीय कर्म—यह आत्मा की दशन शक्ति का निरोधक है और उस द्वारपाल की तरह है जो इच्छुक को राजा के दशन करने से रोक देता है।

(३) वेदनीय कम—आत्मा के अबाध सुख को ढँककर यह उसे वेदना (सुख दुखकर) का अनुभव कराता है। यह कम शहद से सनी हुई छुरी को जीभ से चाटने के समान बताया गया है।

(४) मोहनीय कर्म—मदिरापान की तरह इसके द्वारा आत्मा की विवेक शक्ति ढँक जाती है अर्थात् आत्मा-परमात्मा क विषय मे तथा जड-चेतन के भेद विज्ञान को व तदनुसार सम्यक् आचार रूप विवेक को आच्छादित करता है और वह विकारो व कषायों मे फँस जाता है। यह आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप से ही विस्मृत कर देता है, अत यह आत्म विकास का सब से बडा वैरी है। ज्योही यह पूर्णतया कटेगा, आत्मा अपने मूलरूप-

परमात्मरूप में पहुँच जायगा।

(५) आयुकर्म—यह आत्मा को जीवन की सीमाओं में बाँधता है और बेड़ी की तरह उसके स्वातन्त्र्य गुण पर आघात करता है।

(६) नामकर्म—आत्मा के अमूर्त गुण को घात करके यह चित्रकार की तरह नाना शरीरों के रूप बनाता है और उन्हें विभिन्न रूपों में रंगमंच पर लाता है।

(७) गोत्र कर्म—आत्मा की समान शक्ति को विषम बनाने का काम यह कर्म करता है। बाह्य रूप से देश, जाति, गोत्र गत भेदों को यही पैदा करता है।

(८) अन्तराय कर्म—आत्मा के असीम पौरुष का यह कर्म अवरोध किये रहता है। म त्रबद्ध सर्प की तरह इस कर्म के वश में आत्मा अपने पराक्रम को प्रकट करने में अशक्त बना रहता है।

उपरोक्त कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म ये चार आत्मा के मूलगुणों का घात करने से घाती तथा शेष चार अघाति कर्म कहलाते हैं।

रक्त में फैले हुए रोग कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए जैसे उसके सफेद कणों को पुष्ट किया जाता है, उसी तरह जो आत्माएँ अपने पौरुष व संयम की प्रबलता एकत्रित करते हैं, उस शक्ति द्वारा कर्मों की शक्ति को विनष्ट कर देते हैं और ज्यों ज्यों कर्मों की शक्ति नष्ट होती चली जाती है, आत्मा के वे गुण अधिकाधिक स्पष्टता से प्रकट होते चले जाते हैं। इस प्रकार कर्म जाल को पूरी तरह काट देने पर आत्माएं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और अजर अमर हो जाती है।

यहाँ यह समझ लिया जाय कि आत्मा एक बार पूर्ण मुक्त में होने के बाद फिर से कर्म से सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्त अवस्था में उसकी क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। फिर कारण के अभाव में कर्मबन्ध के कार्य का होना भी संभव नहीं माना जा सकता। जैन धर्म अवतारवाद में विश्वास नहीं करता, जिसके अनुसार मुक्त भी पुनः अवतार धारण कर संसार

मे आता है। अत कम और आत्मा का सम्ब ध अनादि है क्योकि उसके प्रारम्भ की जानकारी ज्ञान सीमा के बाहर की बात भी है, लेकिन इनका सम्बन्ध शान्त है अर्थात् एक दिन दोनो का सम्बन्ध समाप्त होकर आत्मा अपने मूल रूप में पहुच सकता है। अनादि चीज अनन्त ही हो, शान्त नही, ऐसी शका व्यथ है क्योकि भूगभ मे सोना और मिट्टी युगो से साथ रहने पर भी एक दिन खोदकर अलग कर दिये जाते हैं, इसी तरह विकास के प्रयत्नो मे परस्पर सम्बद्ध चेतन व जड भी पृथक् हो सकते हैं।

कमब धन के प्रधान कारणो का उल्लेख करते हुए जैन शास्त्रो मे कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सब से बडा कारण है क्योंकि इसी के कारण रागद्वेष का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारो से आत्मा कम से लिप्त हो जाती है। तत्वाथ सूत्र मे कमब ध के कारण पर कहा गया है—

"सकषाय त्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानाद ते स बन्ध ।"

रागद्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलो को जब ग्रहण करता है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बताये गये हैं। यह उल्लेनीय स्थिति है कि कर्म-बन्ध का मुख्य कारण बाहर की क्रियाएँ उतनी नहीं, जितनी आन्तरिक भावनाएँ मानी गई है। शरीर पर घाव करने की बाह्य क्रिया एक सी होते हुए भी छुरेबाज हत्यारे व सर्जन डॉक्टर के अध्यवसायों का जो अन्तर है, वही कमबन्ध की मूल भित्ति है। "मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।" अत कर्मबन्धन से बचने के लिए भावनाओ की विशुद्धि की ओर सवप्रथम ध्यान दिया जाना चाहिए। क्रियाओ मे अनासक्त भाव का प्राबल्य बनाने से विकारो का प्रभाव नही पडता। शैलेषी नामकी क्रिया मे तो अनासक्ति क्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कमबन्ध से सवथा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मो को रोकना पडता है। इस रोकने को सवर तथा जिन स्रोतो से कम आते हैं, उन्हें आस्रव

कहा गया है। आस्रव का निरोध संवर है। सम्यक ज्ञान, दर्शन व चारित्र की शक्तियों से आत्मा के विकार कर्मों को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्म मुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

इस तरह जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धान्त मानव को अपना निज का भाग्य स्वतः ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उस जीवन की ऊँची नीची परिस्थितियों में शांति, उत्साह, सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढ़ाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियों के बीच भी वह उन्हें अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्जल भविष्य के निर्माण हित सद्प्रयत्नों में प्रवृत्त हो जाने पर दृढ़ निश्चय कर लेता है। कर्मवीर को मानकर यह पूर्वकृत कर्मों के फल को अपने कर्ज चुकने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य में स्वावलंबन व आत्म विश्वास के सुदृढ़ भाव जागृत होते हैं और यह इस सिद्धान्त का सब से बड़ा व्यवहारिक मूल्य है।

कर्मवाद का यही संदेश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रकटाने के लिए विजातीय भौतिक पदार्थों से मोह छुटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियों को प्रकाशित करना होगा। सुविधिनाथ की प्रार्थना का यही सार है कि अपने परम सजातीय परमात्मा से प्रेम करके एक दिन यह आत्मा भी कर्मबन्ध से विमुक्त होकर उन्हीं के सदृश स्वरूप ग्रहण कर ले।

स्थान—
दिल्ली

अपरिग्रहवाद याने स्वामित्व का विसर्जन

मनायें कैसे आज महावीर
शान्ति क्रान्ति कर धीर। ध्रुव०

भगवान् महावीर वर्तमान जैन शासन के नायक हैं। यद्यपि २३ तीर्थङ्कर महावीर से पहले हो चुके हैं और महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। फिर उन २३ तीर्थङ्करो का देश काल पृथक् था। आज जो उपदेश प्रसारित व जैन शासन चल रहा है, वह भगवान महावीर द्वारा आदेशित कहलाता है। यह भी सही है कि अन्य तीर्थङ्कर व भगवान् महावीर के उपदेशो मे कोई आधारगत भेद नही है किन्तु फिर भी देश काल की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार सचेल अचेल, चार महाव्रत पाँच महाव्रत आदि मे अन्तर आया। समयानुसार भगवान् महावीर ने उन पर नवीन प्रकाश भी डाला, जिनमें मैं आज अपरिग्रहवाद पर आपको जैन दृष्टिकोण समझाना चाहता हू।

वैसे आज महावीर जयन्ती मना रहे हैं और श्वेताम्बर दिगम्बर की साम्प्रदायिक दीवारें तोडकर सोचा जाय तो सभी महावीर के समान उपासक हैं। यह आज जो सामूहिक कार्यक्रम बनाया गया है उसे मैं जागृत ही कहूँगा।

जयन्ती समारोह तो अच्छा है किन्तु इस अवसर पर दो बातें आप लोग सोचें। पहली तो यह कि महावीर ने किन प्रमुख सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया और उनका सत्य स्वरूप क्या है ? यह अध्ययन, उपदेश श्रवण व पठन-पाठन का विषय है। जिस ओर आपकी प्रवृत्ति सजग होनी चाहिए ताकि पहले तो आप स्वय अपने सिद्धान्तो का मर्म समझ सकें और आप उन्हें समझकर दूसरो को भी समझावें। विशेष प्रचार के अभाव में अच्छे शिक्षित वर्ग मे भी जैन धर्म के प्रति कई भ्रान्त धारणाएँ हैं। जैसे कोई कहते हैं कि जैनधर्म तो वैदिक धर्म की एक शाखा मात्र है किन्तु यह गलत है और ये

गलतियाँ तभी मिटेंगी जब आप लोग जैन सिद्धान्तों का विशिष्ट प्रचार करके उनके सही स्वरूप को लोगों के सामने प्रकाशित करोगे। जयन्ती समारोह के दिन इस समस्या को विशेष रूप से दिल में उतार कर समाधान निकालना चाहिए।

यह एक निरी आस्था की बात नहीं, ऐतिहासिक चक्र की गति है कि जब-जब चारों ओर विकृतियाँ फैलती हैं, समाज मे गिरावट फैलती है तो उसके विरुद्ध एक क्रान्ति भी भड़कती है और वही क्रान्ति घनी भूत होकर युग पुरुष की रचना करती है। "यदा यदाहि " का एक दृष्टि से यही रहस्य है। भगवान् महावीर के जन्म के पहले की स्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही विकृति हो चली थी। ब्राह्मणों का जीवन ऐश्वर्य से विलासी हो गया था, "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का नारा लगाकर धर्म के मूल गुणों को भूल रहे थे तब एक क्रान्ति के रूप मे महावीर अवतरित हुए। हमने अभी प्रार्थना की—"शान्ति क्रान्ति कर धीर" के अनुसार उन्होने शान्ति क्रान्ति करके समाज में एक परिवर्तन पैदा किया और एक तरह से ब्राह्मण वर्ग के स्वयंभू दमन के विरुद्ध उन्होने जन जन की आत्मा को जगाया कि आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्त्ता है, वही अपना मित्र और शत्रु है—

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मित्त ममित्त च, दुप्पट्ठियो सुपट्ठियो॥

उस युग मे कुछ लोगो के ऐश्वर्य एवं विलासिता तथा बहुजन के दुःख को देखकर महावीर विकल हो उठे। उन्होंने अपने कल्याण के लिए दूसरों की दासता छोड़कर अपनी ही आत्मा को जागृत करने और बलवती बनाने की प्रेरणा दी।

जैनधर्म को महावीर ने जो स्वरूप दिया, वह मुख्यतः प्रवृत्ति-मारक नहीं होकर, निवृत्तिवादी था। उन्होने बताया कि जीवन नश्वर है और इस नश्वर जीवन मे यदि कोई वृत्ति समस्त दुःखों का मूल है तो वह है ममत्व वृत्ति, गृद्ध दृष्टि। जीवन में यदि पैनी दृष्टि से देखा जाय तो परिस्थितियाँ या कि पदार्थ सुख या दुःख नहीं देते बल्कि सुख-दुःख देती है वह दृष्टि जो उन

परिस्थितियो और पदार्थों के सम्बन्ध मे बना ली जाती है। उदाहरण के लिए यदि एक मकान आपके स्वामित्व का है और आपके सामने कुछ लोग आकर उसे गिराने लगें तो आप कितने परेशान हो उठेंगे ? आप विरोध करेंगे, भागेंगे और आवश्यक कार्यवाही करायेंगे। तो उस मकान के साथ चूकि आपका अपना स्वामित्व अपना ममत्त्व लगा हुआ है इसलिए उसकी सर्वाधिक चिन्ता आपको होती है। कल्पना कीजिये कि ऐसी ही स्थिति किसी दूसरे के मकान के साथ गुजरती है तो उसके साथ आपका ममत्व नही होने से आपको वह पीडा नही होगी। इसके विपरीत आप अपने निज के मकान मे रहे या कि वैसे ही सुख सुविधा वाले किराये के मकान मे रहे तो भी सुखानुभव मे काफी अन्तर होगा। तो मूल मे पदार्थ नही, उनका ममत्व ही आपके सुख और दुःख का कारण बनता है।

इसीलिए हमारे यहाँ परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्छा परिग्रह।" पदार्थों का नाम परिग्रह नही, उनमे ममत्व रखकर आत्म ज्ञान से सज्ञा शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है जब जड पदार्थों मे गृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। तो यह स्पष्ट है कि परिग्रह पाप का मूल है और परिग्रह की मूल भावना स्वामित्व की भावना मे छिपी हुई है। मैं अमुक धनराशि का स्वामी हूँ या कि अमुक सम्पत्ति मेरे स्वामित्व मे है। यह ममत्व जब मनुष्य के मन मे जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकडो दुर्गुण उसमे प्रवेश करने लगते हैं।

ममत्व से जागता है राग और द्वेष। अपनी सम्पत्ति के प्रति राग कि वह बढे और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढ़ा होता जायगा, उस सम्पत्ति की वृद्धि व रक्षा मे वह उचित अनुचित कार्य अकार्य सब कुछ वेहिचक करने लग जायगा। इसके साथ ही दूसरो की सम्पत्ति से उसके मन मे द्वेष जागेगा और वह उस सम्पत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा। इस राग और द्वेष की वृत्तियो के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की कई बुराइयाँ मानव मन में प्रवेश करती जायगी तथा इन बुराइयो की फैल

वट म दुनिया का स्वरूप कैसा "त्राहि माम त्राहि माम्" हो जाता है उसका अनुभव मैं समझता हूँ वतमान व्यवस्था में आपको हो रहा होगा।

इसीलिए भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्ति प्रधान माग की प्रेरणा दी। उन्होंने साधु व गृहस्थ धर्मों के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साधु के लिए तो उन्होंने परिग्रह का सवथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रंथ कहा। पंचम महाव्रत से साधु अपने पास कोई द्रव्य नहीं रख सकता तथा वस्त्रादि जो भी रखता है वह भी केवल शरीर रक्षा की दृष्टि से याकि लोक-व्यवहार से, वरना उसमें वह जरा भी ममत्व नहीं रखे। साधु को इसीलिए कुछ पदार्थ रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमें ममत्व नहीं होता और ममत्व इसी नहीं होता कि उन पदार्थों पर वह अपना स्वामित्व नहीं मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर में भी ममत्व नहीं होना चाहिए इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है। उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आवेगी।

तो भगवान महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थों में फसे परिग्रह में ममत्व को घटाते रहे।

किन्तु गृहस्थो के लिए जो १२ व्रत उन्होंने निर्धारित किये उनमें परिग्रह नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। सिर्फ अपरिग्रहवाद की पुष्टि के लिए पाँचवा अणुव्रत स्थूल परिग्रह विरमण व्रत तथा सातवा उपभोग परिभोग परिमाण विरमण व्रत, दो व्रत रखे गये हैं। अन्य किसी विषय पर इतना जोर नहीं दिया गया है जितना कि परिग्रह से दूर हटने के विषय पर और इसका स्पष्ट कारण है कि परिग्रह याने मूर्च्छा रूप स्वामित्व ही नये-नये पाप कर्मों की रचना करता है और समाज में विषमतायें व अन्याय गत प्रवृत्तियाँ फैलाता है।

मैं सामाजिक व संयम जीवन पर अपरिग्रहवाद के शुभ प्रभाव को

स्पष्ट करूं उससे पहले गृहस्थो के ५वें अणुव्रत व ६वें शिक्षाव्रत पर कुछ रोशनी डाल दूं।

गृहस्थो-श्रावको के ५वें अणुव्रत मे पाँच प्रकार के परिग्रह को सीमित करने व उनसे यथाशक्य दूर हटते जाने के सम्बन्ध मे प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं—

(१) खेत घर आदि का परिमाण—जिसमे मुख्यत, समस्त अचल सम्पत्ति का समावेश हो जाता है।

(२) रूप्यक स्वर्ण का परिमाण—इसमे धातु व मुद्रा सम्बन्धी सम्पत्ति का समावेश किया गया है।

(३) धन और धान्य का परिमाण—इसमें धातु व मुद्रा के अलावा तथा घर बिखरी सामग्री के सिवाय समस्त चल सम्पत्ति को ले लिया गया है।

(४) दुपद व चौपद का परिमाण—इसमे नौकर-चाकर व पशुओं का परिमाण करने की बात रखी गई है।

(५) घर बिखरी का परिमाण—घर सामग्री को इस अतिचार में शामिल किया गया है।

इन पाचो अतिचारो मे करीब-करीब सभी प्रकार की सम्पत्ति का समावेश हो जाता है, किसी प्रकार की सम्पत्ति छूटती नही। अब श्रावक को इस व्रत द्वारा प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति के विषय मे मर्यादाएँ निर्धारित कर लेनी चाहिए कि अमुक अमुक परिणाम मे ही अमुक अमुक प्रकार की सम्पत्ति का स्वामित्व वह रखेगा वरना उस मर्यादा से ऊपर प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को वह विसर्जित कर देगा।

एक बार जब श्रावक ऐसी मर्यादाएँ निर्धारित करले व प्रतिज्ञाएँ कर लें तो उसके दो प्रकार के कर्तव्य हो जाते है। एक तो यह कि दिन रात के चौबीस घण्टो मे वह दो बार प्रतिक्रमण करे अर्थात् अपने अणुव्रतों के चिन्तना करते समय सोचे कि उसने उन व्रतो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का अतिचार तो नही किया है। जब उसके प्रतिक्रमण मे पाँचवें व्रत का

उल्लेख आयगा तो उसे सोचना होगा कि पिछले समय में इन पाँचों प्रतिमाओं में से यही वह चूक तो नहीं गया है, कहीं उसने निर्धारित मर्यादा से अधिक किसी भी प्रकार की सम्पत्ति तो नहीं बढ़ा ली है। यह रोज करोप की नियमण उसकी तृष्णा को नियन्त्रित कर देता है और सम्पत्ति के स्वामित्व ममत्व से उसको मुक्त करता जाता है।

उसका दूसरा कर्त्तव्य यह होगा कि जब जब भी उसे अपरिग्रही निग्रंथ साधुओं का समागम होगा तो उसकी ममत्ववृत्ति अधिकाधिक घटती जाय, इस ओर उसे ध्यान देना होगा। परिणाम यह होगा कि वह अपने निर्धारित परिणाम को घटाता जायगा। कल्पना कीजिये कि उसने धन धान्य में दस हजार की सीमा बनाई तो वह धीरे धीरे पाँच और दो की ओर चलता जायगा। इस क्रम का असर यह होगा कि एक ओर तो उसका प्रपंच कम होगा, उसका आत्मा अधिकाधिक विकास की ओर उन्मुख होगा और दूसरी ओर समाज में सम्पत्ति का संचय घटकर विकेन्द्रीकरण बढ़ता जायगा।

भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए इतनी ही सीमा बताकर सन्तोष नहीं किया वरन् उन्होंने उपभोग परिभोग खाने पीने में काम आने वाली वस्तुओं पर भी मर्यादा बनाने का उल्लेख किया व श्रावक के धन्धों के सम्बन्ध में भी १५ कर्मादान से प्रतिबन्ध लगाए जिनका उल्लेख ७वें अणुव्रत में किया गया है।

सातवाँ व्रत है—उपभोग, परिभोग, परिमाण, व्रत। इसके २६ बोल आपको इसलिए गिनाना चाहता हूँ कि आप अपरिग्रहवाद की सूक्ष्मता तक उतर कर इन मर्यादाओं में छिपे गंभीर सामाजिक व आर्थिक महत्व को यथाविधि समझ सकें। इस व्रत के २६ बोल इस प्रकार हैं—(१) उल्लणियाविहं—अंगोछा टुवाल आदि के प्रकार और संख्या की मर्यादा करना (२) दन्तण विहं—दाँतुन करने की सामग्री की मर्यादा करना (३) फल-विहं—फल के खाने आदि फल की मर्यादा करना (४) अब्भंगणविहं—तैलादि की मालिश करने के लिए मर्यादा करना (५) उवट्टणविहं—उबटन की (पीठी आदि) मालिश की मर्यादा करना (६) मज्जणविहं—

स्नान के लिए पानी का परिमाण करना (७)वस्त्रविह्—वस्त्रो की मर्यादा करना (८) विलेवणविह्—शरीर पर लगाये जाने वाले च दन केसर आदि की मर्यादा करना (९) पुप्फविह्—फूलो की व फूलमाला की मर्यादा करना (१०) आभरणविह्—अलकार आभूपण की मर्यादा करना (११) घूप-विह्—घूप दीपादि सामग्री की मर्यादा करना (१२) पेज्जविह्—पीने की वस्तुओ की मर्यादा करना (१३) भक्खणविह्—घेवर आदि पक्वान्न की मर्यादा करना (१४) ओदणविह्—रधे हुए चावल थूली आदि की मर्यादा करना (१५) सूपविह्—मूग आदि दालो की मर्यादा करना (१६) विगय-विह्—घी, तेल, दूध, दही आदि की मर्यादा करना (१७) सागविह्—बथुआ आदि शाक की मर्यादा करना (१८) माहुरविह्—मधुर फलों की मर्यादा करना (१९) जीमणविह्—वडा, पकौडी आदि जीमने के द्रव्यो की मर्यादा करना(२०) पाणियविह्—पीने के पानी की मर्यादा करना (२१) मुखवासविह्—लोग, इलायची आदि वस्तुओं की मर्यादा करना (२२) वाहणविह्—यान, वाहन, हाथी, घोडे आदि की मर्यादा करना (२३) सयणविह्—शय्या पलग आदि की मर्यादा करना (२४) पण्हिविह्—जूते, मोजे आदि की मर्यादा करना (२५) सचित्तविह्—सचित्त वस्तुओ की मर्यादा करना तथा (२६) दव्वविह्—खाने पीने के काम मे आने वाले सचित अचित पदार्थो की जो ऊपर के नियमो से बने हुए हैं उनकी मर्यादा करना, उपभोग—एक बार भोगने मे आने वाले अन्न जल आदि तथा परि-भोग—बार बार भोगने मे आने वाले वस्त्र आभूपण आदि पदार्थों की इस प्रकार श्रावक को मर्यादा बांधनी होती है और प्रतिक्रमण के समय इनके सम्बन्ध मे निम्न प्रकार से अतिचार की आलोचना करनी होती है—

(१) मर्यादा के उपरान्त सचित्त का आहार किया हो,
(२) सचित्त प्रतिबद्ध (अचित का सचित्त से सम्बन्धित करके) का आहार किया हो,
(३) अपक्व का आहार किया हो,
(४) दुष्पक्व का आहार किया हो अथवा

(५) तुच्छ औषधियों का भक्षण किया हो या ऐसे पदार्थों का उपयोग किया हो जिसमे थोडा खाया जाय व ज्यादा फेंकना पडे—तो मैं प्रायश्चित करना चाहता हूं।

इसी व्रत में भोजन के अलावा धंधे के सम्बन्ध में १५ कर्मादानों का भी उल्लेख किया गया है कि निम्न प्रकार के धंधे जिनमे एक ओर तो हिंसा की मात्रा अधिक होती है और दूसरी ओर जो परिग्रह का भयंकर गति से संचय बढ़ाते हैं—श्रावक को नही करने चाहिए—

(१) इंगालकम्मे—कोयले बनाना आदि जिसमे अग्नि का महारम्भ करना पड़े।

(२) वणकम्मे—जंगलात के ठेके लेना, लकड़ी कटवाना आदि।

(३) भाडीकम्मे—यान या वाहनों को किराये पर चलाने का धंधा करना। इसमे वर्तमान यातायात का व्यापार आ जाता है।

(४) फोड़ीकम्मे—जमीन फोड़ने-खान खदान का काम करना।

(५) दन्तवाणिज्जे—दांत-हाथीदांत वगैरा का व्यापार करना।

(६) लक्खवाणिज्जे—अनेक जीवों की हिंसा से बनी हुई लाखादि धातुओं का व्यापार करना।

(७) रसवाणिज्जे—मादक रस—शराब आदि का व्यापार करना।

(८) केसवाणिज्जे—सुन्दर केश वाली स्त्रियों का अर्थात दासियों का क्रय विक्रय करना।

(९) विषवाणिज्जे—विभिन्न प्रकार विष-जहर का व्यापार करना।

(१०) जंतपिल्लण कम्मे—यंत्रो द्वारा पीलने का काम कराना, इसमे मिल कारखानों का समावेश हो जाता है।

(११) निल्लंछण कम्मे—घोड़े, सांड आदि का खस्सी करने का व्यापार

(१२) दवग्गिदावणया—जंगल आदि में आग लगाने का काम

(१३) सरदहतलावपरिसोसणया—सरोवर तालाब आदि को खाली कराकर सुखाना।

(१४) असईजणपोसणया—आजीविका के लिए हिंसक पशु व

दुराचारी का पोषण करना।

(१५)

यह एक समूचा चित्र मैंने रखा है कि श्रावक को भी परिग्रह को परिमित करने के लिए भगवान ने प्रतिबंधित किया है—साधु तो पूर्णतया प्रतिबंधित है ही। श्रावक पर भी जो बारिक मर्यादाएँ ऊपर बताई गई है, उनके महत्व पर विचार करना जरूरी है।

भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद की गहराई मे घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहाँ व्यक्ति और समाज दोनो को सन्तुलित करने का विचार दिया गया है। समाज मे विषमता, शोषण एव अन्याय की जननि ममत्व बुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती है। जिस समाजवादी सिद्धान्त की कल्पना की जाती है, वह भी क्या है—एक तरह से समाज मे सम्पत्ति, धनधान्य एव उपभोग परिभोग की वस्तुओ की समान रूप से मर्यादा बाधने की ही तो बात है जो महावीर कभी से निर्देश कर गये हैं।

यह स्पष्ट है कि जब साधन सामग्री का नियमन किया जाय तो निश्चित है कि उसका कम हाथो मे सग्रह नही होगा बल्कि वही सम्पत्ति और सामग्री अधिकतम हाथो मे बिखर जायगी। जीवन निर्वाह के लिए शोषण की आवश्यकता नहीं होती है, वह तो होती है सग्रह के लिए। इसलिए सग्रह ही समाज में सारी बुराइयाँ पैदा करता है—एक ओर तो बडे बडे बँगलो का वैभव और दूसरी ओर जीर्णशीर्ण झोपडी की दरिद्रता ये सब प्राय सग्रह और विषमता की उपज है। इस विषमता से सबसे बडी जो हानि होती है वह है आत्मिक और आध्यात्मिक हानि। वे व्यक्ति जो विषम वातावरण मे सम्पन्न होते हैं, अधिकतया स्वभावतः यानी वे कुटिल स्वभावी हो जाते हैं और वे व्यक्ति जो इस व्यवस्था में अभावग्रस्त रहते हैं, वे विवशताओ और मजबूरियो में नीचे दबकर प्राय नैतिकता के धरातल पर नही चल पाते। फलस्वरूप समाज के सभी वर्गों पर इस विषमता का कुप्रभाव होता है, अनैतिकता फैलती है।

जहाँ हम व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान् व संयमशील बनाना चाहते हैं, वहाँ इस व्यवस्था में वह सभी प्रकार से अनैतिक और असंयमी बनने के रास्ते पर दौड़ने लगता है तब भगवान महावीर की गृहस्थों के लिए नियोजित अणुव्रत व्यवस्था की उपयुक्तता एवं सत्यता और अधिक स्पष्टता से निखर उठती है। महावीर ने मूल रोग ममत्व को पकड़ा और यदि ममत्व को इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाय व इसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाय तो निश्चित रूप से समाज में एक कुटुम्ब का सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र में निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसलिए सम्पत्ति पर स्वामित्व घटे और हटे तभी शुद्ध मानों में जाकर ममत्व बुद्धि का सफाया हो सकता है। साधु जीवन एक तरह उस आदर्श का चित्र है जहाँ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका किसी भी रूप में स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए उसके लिए किसी भी पदार्थ पर ममत्व रखना वर्ज्य है बल्कि स्वयं ही स्वामित्व के अभाव में ममत्व बुद्धि के आने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। यह तो दुनिया में चारों ओर देखा जाता है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व होने से सैकड़ों प्रकार से कलह एवं झगड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। सम्पत्ति के नाम पर भाइयों का वैमनस्य देखा जाता है, भागीदारों से कलह पैदा होते हैं और पड़ोसियों से झगड़े होते रहते हैं। कभी कभी तो एक-एक इंच भूमि के लिए निकटस्थों में सर फूटते देखे जाते हैं। सारा समाज एक कुटुम्ब क्या बने, उसका एक छोटा सा घटक, मात्र का कुटुम्ब भी इस व्यवस्था में संयुक्त और सशान्त नहीं रह पाता। इस सारी विषमता और कलुषितता से त्राण पाने का एवं समाज सुव्यवस्था के साथ आत्मा की उन्नति करने का प्रधान मार्ग है। भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद जिसकी ओर आप लोगों का ध्यान जावे और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे संसार में फैलाएँ। यह आज युग की माँग हो गई है।

"अहिंसा परमोधर्म" का पालन भी बिना अपरिग्रह के स्वस्थ रीति

से करना सभव नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी जब दीक्षा ली तो उन्होने सारे वस्त्राभरण त्याग कर अपने शरीर पर एक मात्र वस्त्र ही रखा था, उसे भी बाद मे त्याग दिया। क्या भगवान महावीर आपसे कम सुकोमल थे? अरे, वे तो राज्य के महान् वैभव मे अपार सुख सुविधाओ के बीच रहने वाले राजकुमार थे, फिर भी कोई ममत्व उन्हें बाँध नही सका और आप कहते हैं कि 'हमारा निभाव सम्पत्ति के बिना कैसे हो?" पर मैं पूछता हूं कि क्या बहिनें मोती के हार पहने बिना जीवित नही रह सकती, जो सैकडो घोघो को मारकर प्राप्त किये जाते हैं? रेशमी और सुन्दर वस्त्रो की जगह यदि खादी पहनी जाय तो क्या शरीर क्षय हो जायगा? बडे बडे बगलो की बजाय झोंपडी का आनन्द लिया जाय तो वह निराला होगा। आप एक ओर बडी बडी तपस्याएँ करते हैं और दूसरी ओर परिग्रह के पीछे पडे रहते हैं। क्या यह उस तपस्या को लज्जित करना नही है? निष्परिग्रही महावीर के अनुयायी गरीबो का खून चूसते रह। यह स्वय महावीर को लज्जित करने जसा काय है।

मैं आपको गम्भीरता से कहना चाहता हूँ कि आप अधिक न बन सकें तो कम से कम यह प्रतिज्ञा तो आज के दिन अवश्य करें कि आप किसी पर मुकद्दमा नही करेंगे और ओछी सम्पत्ति के कारण अपने भाइयो के बीच मे कलह का बीज कतई नही बोएँगे। मैं आपसे पूछूं, राम का नाम क्यों प्रसिद्ध है? क्या वे दशरथ के पुत्र थे इसलिए? नही, उससे बडी बात की उन्होने अपने जीवन मे कि वे अपने भाई के लिए सारा राज्य त्याग कर बन मे चले गये। महावीर और राम जैसे महापुरुषो की जयन्ती समारोह मनाना तभी सफल माना जा सकता है, जब उन महापुरुषो के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन मे उतारें वरना ये समारोह वगैरा मनाना सब नाटक रूप माना जायगा और इनसे अपनी आत्मा मे कोई जागरण पैदा नहीं होगी।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि चेत् अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारें तो वे अपने जीवन मे तो आनन्द का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारा दुनिया में

एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योंकि अपरिग्रह का सिद्धान्त साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यों की तो पूर्ति कर देगा किन्तु उनकी बुराइयों को भी चरित्र एवं संयम की आधारशिला पर नागरिकों को खड़ा करके पनपने नहीं देगा।

इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपरिग्रही बनिये और महावीर के गौरवान्वित नाम के गौरव को और अधिक बढ़ाइये। यह बाहर का वैभव बाहर और अन्दर दोनों को डुबाने वाला है अतः अन्दर के वैभव को बढ़ाइये और उसको समृद्ध करिये। भगवान महावीर ने भी अपने पहले फैले हुए असत्य, हिंसा के प्रवाह, एकान्ती विचार एवं परिग्रही ममत्व के अंधेरे को अपने ज्ञान के आलोक से विनष्ट किया, उसी रोशनी की मशाल को आप फिर से ऊपर उठाइये और आप देखेंगे कि आपकी उन्नति का निष्कंटक पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

लोदी रोड, दिल्ली दि० १५-४-५१

शास्त्रों के चार अनुयोग

मानव का उद्देश्य अन्धकार से प्रकाश की ओर बढते जाना है और चरम विकास के रूप मे एक दिन स्वय के जीवन को परम प्रकाशमय बना लेना है। जीवन के अन्धकार का आकाशदीप या प्रकाशस्तभ निमल ज्ञान है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही की दृष्टि से अपने विकास पथ का यथार्थतया अवलोकन किया जा सकता है। जिन महापुरुषो ने अपने जीवन मे उच्चतम विकास प्राप्त किया, उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के सफल सयोग से उत्थान को जो ठोस बातें बताई, वे ही आज हमारे सामने शास्त्रोक्त सिद्धान्तो के रूप में उपस्थित है। शास्त्रो की पूर्ण प्रामाणिकता, वास्तविकता एव वैज्ञानिकता में अटल व अटूट विश्वास करने का यही कारण है कि इनके निर्माताओ का ज्ञान व अनुभव उतना ही विशाल, सजग एव सुदृढ था। इसलिए हजारो वर्ष बाद भी वह शास्त्रोक्त ज्ञान हमे हमारे घनान्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करने मे ज्योतिर्मय प्रेरणा प्रदान करता है।

तो यहाँ मैं आपके सामने आपकी प्रदर्शित इच्छा के अनुसार यह बताने जा रहा हूँ कि जैन शास्त्रों मे चरम विकास की क्या स्थिति है, उसकी पूर्व भूमिकाएँ क्या है तथा किन किन सीढियो से शास्त्रोक्त ज्ञान विकास की मंजिल की ओर आगे बढाता है?

प्रधानतया धार्मिक सिद्धान्तो का लक्ष्य आत्मविकास करना होता है इसलिए ज्ञान, वैराग्य, तप आदि वैयक्तिक साधना के साधनो का इनमे सविस्तार वर्णन भी होता है। इन सिद्धान्तो की कसौटी भी यही है कि कौन सिद्धान्त विकास के लिए कितनी बलवती प्रेरणा दे सकता है और पतन के समय उसे जागृत कर सत्य मार्ग पर ले आता है? इस दृष्टि में कहना चाहूँगा कि जैन सिद्धान्त व्यक्ति के हृदयपटल की सूक्ष्म गहराइयो मे प्रवेश करते हैं और उसे अपने पतन से सावधान करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर

एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योंकि अपरिग्रह का सिद्धान्त साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यों की तो पूर्ति कर देगा किन्तु उनकी बुराइयों को भी चरित्र एव सयम की आधारशिला पर नागरिकों को खड़ा करके पनपने नहीं देगा।

इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपरिग्रही बनिये और महावीर के गौरवान्वित नाम के गौरव को और अधिक बढ़ाइये। यह बाहर का वैभव बाहर और अन्दर दोनो को डुबाने वाला है अत अन्दर के वैभव को बढ़ाइये और उसको समृद्ध करिये। भगवान महावीर ने भी अपने पहले फले हुए असत्य, हिंसा के प्रवाह, एकान्ती विचार एव परिग्रही ममत्व के अँधेरे को अपने ज्ञान के आलोक से विनष्ट किया, उसी रोशनी की मशाल को आप फिर से ऊपर उठाइये और आप देखेंगे कि आपकी उन्नति का निष्कटक पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

लोदी रोड, दिल्ली दि० १५-४-५१

शास्त्रो के चार अनुयोग

मानव का उद्देश्य अधकार से प्रकाश की ओर बढते जाना है और चरम विकास के रूप मे एक दिन स्वय के जीवन को परम प्रकाशमय बना लेना है। जीवन के अन्धकार का आकाशदीप या प्रकाशस्तभ निर्मल ज्ञान है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही की दृष्टि से अपने विकास पथ का यथार्थतया अवलोकन किया जा सकता है। जिन महापुरुषो ने अपने जीवन में उच्चतम विकास प्राप्त किया, उन्होने अपने ज्ञान और अनुभव के सफल सयोग से उत्थान की जो ठोस बातें बताई, वे ही आज हमारे सामने शास्त्रोक्त सिद्धान्तो के रूप में उपस्थित है। शास्त्रो की पूर्ण प्रामाणिकता, वास्तविकता एव वैज्ञानिकता में अटल व अटूट विश्वास करने का यही कारण है कि इनके निर्माताओ का ज्ञान व अनुभव उतना ही विशाल, सजग एव सुदृढ था। इसलिए हजारो वर्ष बाद भी वह शास्त्रोक्त ज्ञान हमे हमारे घनान्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करने मे ज्योतिर्मय प्रेरणा प्रदान करता है।

तो यहाँ मैं आपके सामने आपकी प्रदर्शित इच्छा के अनुसार यह बताने जा रहा हूँ कि जैन शास्त्रों मे चरम विकास की क्या स्थिति है, उसकी पूर्व भूमिकाएँ क्या है तथा किन किन सीढियो से शास्त्रोक्त ज्ञान विकास की मजिल की ओर आगे बढाता है?

प्रधानतया धार्मिक सिद्धान्तो का लक्ष्य आत्मविकास करना होता है इसलिए ज्ञान, वैराग्य, तप आदि वैयक्तिक साधना के साधनो का इनमे सविस्तार वर्णन भी होता है। इन सिद्धान्तों की कसौटी भी यही है कि कौन सिद्धान्त विकास के लिए कितनी बलवती प्रेरणा दे सकता है और पतन के समय उसे जागृत कर सत्य मार्ग पर ले आता है? इस दृष्टि मे कहना चाहूँगा कि जैन सिद्धान्त व्यक्ति के हृदयपटल की सूक्ष्म गहराइयो मे प्रवेश करते हैं और उसे अपने पतन से सावधान करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर

बनाते हैं। इन विकासोन्मुखी परिस्थितियों का जैन शास्त्रो मे बडी ही सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। यहाँ मैं आप लोगो को थोडा उपालम्भ दू कि आप ऊँचा-से-ऊँचा व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं बी० ए०, एम० ए० या डॉक्टर आदि बन जाते हैं किन्तु आत्मविकासक ज्ञान सीखने की ओर खास ध्यान नहीं देते। कोरे अर्जन करने की कला सीखते हैं, पर अन्धकार से प्रकाश की ओर बढने की कला से अगर बिलकुल अनभिज्ञ रह गये तो आप ही सोचिये कि जीवन को सफल बनाने के लिए केवल अन्धकार आपकी कैसी सहायता कर सकेगा। आज आप लोगो का कर्त्तव्य है कि जैन सिद्धान्तों की सूक्ष्मता को स्वय समझें, मनन करें और उन्हें नवीन रूप में जगत् के सामने रखें। सिद्धान्तो के इस तरह से अत्यल्प प्रचार को देखकर मुझे दु ख होता है कि आप जैन विद्वानो के समक्ष भी जैन सिद्धान्तों का प्रारंभिक रूप मुझे बताना पडे। मैं आशा करूँ कि वतमान अशान्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में जैन सिद्धान्तों का वास्तविक मूल्याकन कर उन्हे ठीक रूप मे प्रचारित करने का लक्ष्य बनाया जायगा। मेरे सामने काफी अजैन विद्वान् भी बैठे हुए हैं और मेरा उनसे भी यही कथन है कि अब साम्प्रदायिकता का यह युग नही, अब तो शुद्ध सैद्धान्तिक भूमि पर विभिन्न दर्शनो के विभिन्न सिद्धान्तों को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और उनमे से जिन सिद्धान्तों द्वारा व्यापक सर्वहित सम्पादित करना सभव दीख पडे, उन्हें प्रसारित व प्रचारित करने मे अपना योग देना चाहिए। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'—जैसी जहरीली बातों का तो आज कोई भी सभ्य आदमी चर्चा तक नही कर सकता। सत्य चाहे जहाँ मिले, जिज्ञासु वहाँ चला ही जायगा। अपना ही सत्य और दूसरो का सब असत्य—ऐसी मनोवृत्ति को फैला कर अपने अनुयायियो को विस्तृत ज्ञान सम्पादन से रोकना भी मैं तो अपनी ही कमजोरी का एक कारण समझता हूँ।

हाँ तो जैन शास्त्रों का विषय परिचय कराने के लिए इन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१ प्रथम—प्रथमानुयोग या धर्मकथानुयोग

२ द्वितीय—गणितानुयोग

३ तृतीय—चरणकरणानुयोग

४ चतुर्थ—द्रव्यानुयोग

अनुयोग का अर्थ है व्याख्यान या विवेचन। जैन समाज का कोई भी सम्प्रदाय हो, उनके समस्त ग्रन्थो मे इन्हीं विषय प्रणालियो से विवेचन किया गया है, क्योकि सारे साम्प्रदायिक भेद तो भगवान् महावीर के भी अनेक वर्षो के बाद उत्पन्न हुए हैं।

प्रथमानुयोग का अर्थ कथा-साहित्य के व्याख्यान से है। जैन-ग्रन्था मे तात्त्विक एव विकासकारी बातो को समझाने के लिए स्थान स्थान पर कथाओ का उल्लेख किया गया है। कथाओ की प्रणाली ही सिद्धान्तो को इतना लोकप्रिय बना सकी है, क्योकि इसके द्वारा उक्त सिद्धान्त की जानकारी अत्यन्त ज्ञान व समझ वाले को भी आसानी से कराई जा सकती है। इसलिए जैन-शास्त्रो से कथाओ द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि गूढ तत्वो का भी ज्ञान बडी सरलतापूर्वक हो जाता है। दूसरे कथाओ की प्रणाली मे एक तरह की सरसता व प्रेरणाशीलता भी होती है। महापुरुषा की जीवगाथाओ से जीवन म सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की एक बलवती प्रेरणा मिलती है। उनके जीवन के उत्थान-पतन के सघर्ष और प्रगति की निष्ठा कथाओ के रूप मे श्रोता के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव छोडती है। इस तरह हमारे शास्त्रीय दृष्टान्त पतन मे जागरण व उत्थान में विचारणा प्रदान करते हैं।

जैन धर्म का कथा साहित्य, जो कि वास्तव मे साहित्यिक क्षेत्र मे अभी तक पूर्ण रूप से प्रकाश मे नही लाया गया है, विश्व के कथा साहित्य मे अनुपम है। जैन-कथानक की यह सबसे बडी विशेषता रही है कि इनमे यथार्थ व आदर्श का मिश्रित रूप का इस सुन्दरता से चित्रण किया गया है कि पाठक को पतन से जागृत करते हुए इसमे उसे विकास का प्रेरणा-स्रोत मिलता है। कथानक कहीं भी असगत व अस्वाभाविक नही होता। अधिकतर धार्मिक कथानको मे काफी अत्युक्तियाँ व काल्पनिक वर्णन पाया

बनाते हैं। इन विकासोन्मुखी परिस्थितियों का जैन शास्त्रों में बड़ी ही सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। यहाँ मैं आप लोगों को थोड़ा उपालम्भ दूं कि आप ऊँचा-से-ऊँचा व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं बी० ए०, एम० ए० या डॉक्टर आदि बन जाते हैं किन्तु आत्मविकासक ज्ञान सीखने की ओर खास ध्यान नहीं देते। कोरे अर्जन करने की कला सीखते हैं, पर अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की कला में अगर बिलकुल अनभिज्ञ रह गये तो आप ही सोचिये कि जीवन को सफल बनाने के लिए केवल अन्धकार आपकी कैसी सहायता कर सकेगा। आज आप लोगों का कर्त्तव्य है कि जैन सिद्धान्तों की सूक्ष्मता को स्वयं समझें, मनन करें और उन्हें नवीन रूप में जगत् के सामने रखें। सिद्धान्तों के इस तरह के अत्यल्प प्रचार को देखकर मुझे दुःख होता है कि आप जैन विद्वानों के समक्ष भी जैन सिद्धान्तों का प्रारंभिक रूप मुझे बताना पड़े। मैं आशा करूं कि वर्तमान अशान्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में जैन सिद्धान्तों का वास्तविक मूल्यांकन कर उन्हें ठीक रूप में प्रचारित करने का लक्ष्य बनाया जायगा। मेरे सामने काफी अजैन विद्वान् भी बैठे हुए हैं और मेरा उनसे भी यही कथन है कि अब साम्प्रदायिकता का वह युग नहीं, अब तो शुद्ध सैद्धान्तिक भूमि पर विभिन्न दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और उनमें से जिन सिद्धान्तों द्वारा व्यापक सर्वहित सम्पादित करना सभव दीख पड़े, उन्हें प्रसारित व प्रचारित करने में अपना योग देना चाहिए। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'—जैसी जहरीली बातों का तो आज कोई भी सभ्य आदमी चर्चा तक नहीं कर सकता। सत्य चाहे जहाँ मिले, जिज्ञासु वहाँ चला ही जायगा। अपना ही सत्य और दूसरों का सब असत्य—ऐसी मनोवृत्ति को फैला कर अपने अनुयायियों को विस्तृत ज्ञान सम्पादन से रोकना भी मैं तो अपनी ही कमजोरी का एक कारण समझता हूँ।

हाँ तो जैन शास्त्रों का विषय परिचय कराने के लिए इन्हें चार मार्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१ प्रथम—प्रथमानुयोग या धर्मकथानुयोग

२ द्वितीय—गणितानुयोग

३ तृतीय—चरणकरणानुयोग

४ चतुर्थ—द्रव्यानुयोग

अनुयोग का अर्थ है व्याख्यान या विवेचन। जैन समाज का कोई भी सम्प्रदाय हो, उनके समस्त ग्रन्थो मे इन्हीं विषय प्रणालियो से विवेचन किया गया है, क्योकि सारे साम्प्रदायिक भेद तो भगवान् महावीर के भी अनेक वर्षो के बाद उत्पन्न हुए हैं।

प्रथमानुयोग का अर्थ कथा-साहित्य के व्याख्यान से है। जैन ग्रन्थो मे तात्त्विक एव विकासकारी बातो को समझाने के लिए स्थान स्थान पर कथाओ का उल्लेख किया गया है। कथाओ की प्रणाली ही सिद्धान्तो को इतना लोकप्रिय बना सकी है, क्योकि इसके द्वारा उक्त सिद्धान्त की जानकारी अत्यन्त ज्ञान व समझ वाले को भी आसानी से कराई जा सकती है। इसलिए जैन शास्त्रो से कथाओ द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि गूढ तत्वो का भी ज्ञान बडी सरलतापूर्वक हो जाता है। दूसरे कथाओ की प्रणाली मे एक तरह की सरसता व प्रेरणाशीलता भी होती है। महापुरुषो की जीवगाथाओ से जीवन मे सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की एक बलवती प्रेरणा मिलती है। उनके जीवन के उत्थान-पतन के सघर्ष और प्रगति की निष्ठा कथाओ के रूप मे श्रोता के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव छोडती है। इस तरह हमारे शास्त्रीय दृष्टान्त पतन में जागरण व उत्थान में विचारणा प्रदान करते हैं।

जैन धर्म का कथा साहित्य, जो कि वास्तव मे साहित्यिक क्षेत्र मे अभी तक पूर्ण रूप से प्रकाश मे नही लाया गया है, विश्व के कथा साहित्य मे अनुपम है। जैन-कथानक की यह सबसे बडी विशेषता रही है कि इनमे यथार्थ व आदर्श का मिश्रित रूप का इस सुन्दरता से चित्रण किया गया है कि पाठक को पतन से जागृत करते हुए इसमे उसे विकास का प्रेरणा-स्रोत मिलता है। कथानक कही भी असगत व अस्वाभाविक नही होता। अधिकतर धार्मिक कथानको मे काफी अत्युक्तियाँ व काल्पनिक वर्णन पाया

होती हुई पुन उसी के कानों मे गिरती है। पैसे इस बात की हँसी उड़ाई जा सकती थी, किन्तु वर्तमान विज्ञान की इस सम्बन्ध मे सफल खोजों के बाद यह स्थिति नही रही। वैज्ञानिकों ने ध्वनि को तीव्र गति वाली साबित कर दी है, बल्कि रेडियो द्वारा उसे नियन्त्रित रूप से सबत्र पहुँचाया भी जा रहा है। इसी तरह अन्य कई तथ्य हैं, जिन्हें "जैन सिद्धांतो मे वज्ञानिक तत्त्व" शीषक के नीचे ही विस्तार से समझाया जा सकता है। इनमे प्राणु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि कई तत्त्व हैं।

जन जिसे चौदह 'राजु' लोक कहते है, वैष्णव उसे चौदह लोक और मुसलमान चौदह तलब बताते हैं। इसी प्रकार अन्य कई बातें हैं इस गणितानुयोग की—जो दूसरों की मान्यताओं से भी मेल खाती हैं। आज स्वग व नरक के लम्बे वर्णनों से नवयुवकों मे अश्रद्धा उत्पन्न होती है, किन्तु वे प्रकृति के व्यवस्थाबद्ध क्रम को नही समझना चाहते। आपके लौकिक व्यवहार में भी तो कुछ ही सैकण्डों में जो किसी मनुष्य की हत्या कर डालता है, उसे फल कितना लम्बा भुगताया जाता है—आजीवन कारावास। अगर यहा भी यह व्यवस्था है तो प्रकृति के कार्यों मे कोई इसके लिये व्यवस्था नहीं। दूसरे स्वग, नरक का वणन उनके वर्णन मात्र की दृष्टि से प्रमुख नही, बल्कि जिस तरह आज के न्याय-दण्ड का एक लक्ष्य उदाहरणात्मक होता है उसी तरह इनके वर्णनों से आत्मा यह सोचने का प्रयास करे कि हत्या करने पर यह सजा होगी और धोखादेही के मामले मे अमुक दफा लगेगी तथा उसके बाद अपने आपको वह दुष्कर्मों से बचा सके। इसके विपरीत स्वग का वर्णन उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। जैसे वायु के उतार चढाव व दबाव को मापने का पैमाना दूसरा होता है और सोना चांदी तोलने का दूसरा—एक ही कांटे से दोनो का माप तौल नहीं लिया जा सकता, उसी तरह विज्ञान की अभी भी अपूर्ण स्थिति म इन तथ्यों में अविश्वास पैदा कर लेना उचित नही कहला सकता। यह सुनिश्चित है कि यह सारी गणित भी गणित के लिए नहीं बनी है, बल्कि उसका मूल उद्देश्य भी जीवन विकास मे सहयोग देना ही है। अत इस गणितानुयोग का भी तथा

दृष्टि से ही मूल्याकन करना चाहिए।

तीसरे चरणकरणानुयोग मे जैनागमो मे विस्तार पूर्वक चरित्र-चित्रण का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है। बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रो मे चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नही समझता, वह तो उसे भार की तरह ही उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भार रूप ही है। ज्ञान और चारित्र्य के सगम से ही मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है। *ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान* लँगडा, अत अन्धे और लँगडे के सहयोग करने से ही दोनो का त्राण हो सकता है। आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रो मे ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नहीं दिया गया हैं। बिना सम्यक ज्ञान के की जाने वाली कठोरतम क्रियाएँ भी चारित्रिक विकास का कारण नही बन सकती। लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत उष्ण वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नहीं। जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या? उसी तरह आत्म-भावना बिना तपादिक की क्रियाएँ आत्म विकास मे सहायक नहीं हो सकती। दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक मे प्रशसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखो की प्राप्ति के लिए। किन्तु केवल अपने आत्म विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे।

जैन शास्त्रो मे ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नहीं किया गया है जिससे किसी भी रूप मे मानसिक, वाचिक या कायिक हिंसा होती हो। यज्ञ, द्रव्य पूजा आदि का तो भगवान् महावीर ने खण्डन किया है। भाव यज्ञ और भाव-पूजा का ही विधान सवत्र पाया जाता है। आत्म विकास हित गति करने की विभिन्न श्रेणियाँ हमारे यहाँ कायम की गई हैं और तदनुसार ही चारित्र्य पालन की श्रेणियो का ही विवेचन किया गया है। सारे सासारिक व्यामोहो को छोडकर पूर्ण रूप से स्वपर कल्याणहित प्रगमन करने वाले ५। साधु चारित्र्य या अणगार

व्ययध्रौव्ययुक्त सत्''। जो उत्पन्न होने व नष्ट होने के बावजूद भी ध्रौव्य (स्थिर) है, वह द्रव्य है। द्रव्य छ बताये गये हैं। (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय व (३) आकाशास्तिकाय—ये तीन द्रव्य अरूपी हैं तथा क्रमश गति, स्थिति एव अवकाश प्राप्त कराने मे सहायक होते हैं। गति व स्थिति मे सहायक तत्वो के सम्बन्ध म तो विज्ञान भी अब मानने लगा है। (४) काल द्रव्य-वस्तुत कोई द्रव्य नही है किन्तु औपचारिक रूप से माना गया है। क्योकि भूतकाल बीत चुका, वतमान हमारे सामने है व भविष्य उत्पन्न होगा, अत इसमे द्रव्य का लक्षण घटित नही होता। (५) जीव व (६) पुद्गल द्रव्य हैं।

जीव या आत्म द्रव्य का वणन जैन दर्शन मे अतिस्पष्ट एव असदिग्ध रूप से किया गया है। जीव की पर्याय अवस्थाएँ बदलती रहती हैं अत उसका पूव पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पयाय की दृष्टि से नई उत्पत्ति, पर तु इन पर्यायों के परिवतन मे बावजूद भी अपने रूप मे आत्मा ध्रौव्य रूप मे रहता है। जैसे एक सोने के कडे को तुडवाकर हार बनवाया तो सोना कडे रूप पर्याय से नष्ट हुआ वह हार रूप पर्याय मे उत्पन्न, परन्तु स्वणत्व की दृष्टि से वह ध्रौव्य रहा। पर्यायों मे आकृति या रूपान्तर होता है, मूल स्वरूप म तो एकता ही विद्यमान रहती है। दूसरे वेदान्त मान्यता की तरह हमारे यहाँ आत्मा एक नही मानी गई है, किन्तु प्रत्येक प्राणी में स्वतन्त्र आत्मा है तथा स्वतन्त्र ही उसकी अपनी अनुभूतियाँ भी होती हैं। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी अलग-अलग दुःख या सुख का अनुभव करता है।

इसके सिवाय आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त शक्ति का अपार तेज रहा हुआ है, किन्तु यह तेज उसी तरह ढका हुआ है जिस प्रकार काले बादलों से ढक जाने पर सूय का ज्वलत प्रकाश भी छिप-सा जाता है। आत्मा की इन तेजमयी शक्तियों पर कम मैल की परतें चढी हुई हैं। ये कम मुख्य रूप से आठ माने गये हैं। ये कम नित्य नहीं हैं। आत्मा जैसे काय करता है, तदनुरूप ही कर्मों का बन्ध होता है।

पूर्व कर्मों की निर्जरा व नये कर्मों के बन्ध होने का यह क्रम इस सृष्टि मे चलता ही रहता है, जब तक सारे कर्म खपाकर आगे के बन्ध को रोककर आत्मा का सर्वोच्च उत्थान प्राप्त नही कर लिया जाता। कर्मों के विभिन्न फलाफल के अनुसार ही जीव विभिन्न गतियो म भ्रमण करता रहता है। जैन दर्शन मे पृथ्वी, पानी, वनस्पति, हवा व आग मे भी एकेन्द्रिय जीव माने गये हैं, जिन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। ये प्राणी भी उच्चतम विकास करते हुए मनुष्य देव आदि योनियो तक पहुँच सकते हैं। मनुष्य और देव भी अधम कार्य करता हुआ एकेन्द्रियो के रूप मे अपने आपको पहुँचा सकता है। यहाँ तो अपने कर्म के अनुसार गति की ऊँची नीची दिशा का निर्माण होना माना गया है। सर्वोच्च विकास मे नीचा आत्मा भी शुद्ध बुद्ध रूप हो सकता है, जिसे सिद्ध या परमात्मा कहते हैं। हमारे यहाँ ईश्वर का नियन्ता रूप नही माना गया है।

ससार का यह गतिचक्र जीव व पुद्गल के सयोग से चलता है, जिसे समझने के लिए जैनागमो मे 'नव तत्त्व' का उल्लेख किया गया है। पुद्गल वर्ण, गध, रस व स्पर्श युक्त है, जो जीव के साथ सम्बन्धित होकर ससार की बहुरूपा माया की रचना करता है।

इसी द्रव्यानुयोग मे छ लेश्याओ अर्थात प्राणी के विभिन्न भावो की स्थिति का भी दिग्दर्शन कराया गया है तथा इसी तरह चौदह गुण स्थानो का भी वर्णन है, जो आत्मा विकास की श्रेणियो के रूप मे दिखाये गये हैं।

जैनधर्म मे किसी भी पदार्थ या तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए नयवाद व स्याद्वाद की दृष्टि से देखना होता है क्योकि इनकी सहायता के बिना उसके विभिन्न पहलू नजर नही आवेंगे तथा प्राप्त ज्ञान सिर्फ एकान्तिक दृष्टिकोण वाला होगा।

जैन दर्शन ज्ञान का एक विशाल भडार है, उसकी मैं आपको सिर्फ एक झलक मात्र दिखा सका हूँ और इसके बाद मैं आशा करू कि आप विद्वान लोग इसके गहन अध्ययन और तत्त्व चिन्तन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

सब्जी मण्डी, दिल्ली। ता० १-२ ५९

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

"सुज्ञानी जीवा भज ले रे जिन इकीसवां"

यह २१ वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की प्रार्थना है। इसमें परमात्मा के भजन पर जोर दिया गया है और वह भी करने के लिए सुज्ञानी जीवों को सम्बोधित किया गया है।

जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्मा पद कोई अलग वस्तु स्थिति नहीं बल्कि उसका स्वरूप आत्मा के ही परमोत्कृष्ट रूप में जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का कलुष ज्यों-ज्यों धुलता जाय, गुण स्थान की सीढ़ियों पर चढ़ता जाय, चरम स्थिति होती है कि वही परमात्मा पद पहुँच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमें क्रम स्वरूप भेद हैं, मूल भेद नहीं। हमारी यह मान्यता नहीं कि ईश्वर इस जगत् या कि जगद्वर्ती आत्माओं से प्रारम्भ ही से विलग रहा है और उसका जगत् की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी अनुवर्तन में पुद्गल तथा आत्माएँ प्रेरित या अनुप्रेरित होते हैं और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माएं कर्म चक्र में फसती हैं और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढ़कर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती है। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम बिन्दु परमात्मा पद है।

इस दृष्टिकोण से परमात्मा को भजने का अव्यक्त अभिप्राय भी आत्मा को समझना, संवारना और साधना पथ पर अग्रगामी बनाना ही मूलतः माना जायगा। इसीलिए इस प्रार्थना में सुज्ञानी जीवों को सम्बोधित किया गया है। जो जीव अज्ञानी हैं, उनमें तो पहले ज्ञान की ज्योति जगानी होगी कि वे आत्मा से लेकर परमात्मा के विकास क्रम को जानें और उसमें आस्था बनाएं। क्योंकि इस जानकारी के बाद में ही साधना पथ पर गति

करना प्रारम्भ किया जा सकता है। जिन्हे यह जानकारी भी नही, उनको अज्ञानी कहा गया है और इसीलिए वे ज्ञान को कार्यान्वित करने में सक्षम नही माने गये हैं क्योंकि परमात्मा को भजने की पूर्व स्थिति उनमे उत्पन्न नही हुई है। जिस प्रकार से सिंहनी के दूध को यदि स्वर्ण पात्र के अलावा अन्य धातु के पात्र मे ले लो तो पात्र टूक टूक हो जायगा। स्वर्णपात्र मे ही वह क्षमता है कि उस दूध को टिका सके। उसी प्रकार सुज्ञानी जीव ही क्षमता रखते हैं कि वे परमात्मा के भजन में अपने आपको योग्यतापूर्वक नियोजित कर सकें।

अब प्रश्न उठता है कि सुज्ञानी जीव कौन कहे जावें? आत्मा से परमात्मा तक के विकास क्रम का जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है और ज्ञानी होकर उसमे अपनी आस्था जुटाई है, वह सुज्ञानी कहा जायगा। धर्म और उसके दर्शन की जो धुरी है वह है आत्माका परमोत्कृष्ट विकास, इसलिए इस विकास का मूल है आत्मा! कैसी आत्मा? जो कि इस ससार के गतिचक्र मे भ्रमण कर रही है अर्थात् जड पुद्‌गलो के सयोग से जन्म मरण करती हुई बन्धानुबन्ध करती रहती है। तो उस आत्मा का विकास कैसे हो? कौन से कार्य हैं, जिनसे आत्मा की भूमिका मे उठान पदा होगी और वह उठान ऊपर-से-ऊपर चढती हुई सासारिक सकट की जड को ही काट डालेगी, जड और चेतन का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा।

यह जो समस्त ज्ञान है वही आत्मा की विकास गति को पूर्णतया स्पष्ट करता है और यही आधारगत ज्ञान है, जिसकी रोशनी मे अन्य सारी विचार सरणियाँ विश्लेषित होती हैं। इसीलिए जैन दर्शन मे इस ज्ञान को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है उसे तत्त्वज्ञान कहते हैं और यही तत्त्वज्ञान सुज्ञानी का लक्षण है।

जैन शास्त्रो मे इस तत्त्ववाद का बडा विशद् विवरण है और उसमे विस्तार से बताया गया है कि इन तत्त्वो पर ही आत्मा, परमात्मा और ससार की धुरी घूमती रहती है। यह तत्त्वज्ञान ससार के मूल से लेकर मुक्ति के मुख तक समाहित माना गया है।

इस समूचे तत्त्ववाद को नौ भागों में विभक्त किया गया है। यद्यपि अन्य दर्शनों में कई तत्त्व माने गये हैं, किन्तु जैन दर्शन इन्हीं नौ तत्त्वों को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मानता है, इसलिए परमात्मा के भजन को हम सिर्फ नाम स्मरण में ही समाप्त नहीं मानकर तत्त्व विचारणा तक ले जाते हैं। इन्हीं तत्त्वों का मनन और चिन्तन करते हुए सुज्ञानी जीव इस संसार के भ्रमण चक्र से निकल कर परमात्मा की स्थिति में परिवर्तमान होते हैं, जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करते हैं।

अत मैं आपको नौ तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में स्पष्ट करना चाहूँगा कि इस तत्त्वज्ञान की सीढ़ी से हम भी आत्म विकास की दिशा में अग्रगामी हों।

ये नौ तत्त्व इस प्रकार हैं—१ जीव, २ अजीव, ३ बन्ध, ४ पाप ५ पुण्य, ६ आश्रव, ७ संवर, ८ निर्जरा, ९ मोक्ष।

मुख्यतया इन में से दो तत्त्व प्रधान व महत्त्वपूर्ण हैं और वे हैं जीव व अजीव, जिन्हें अलग अलग मतों में जड़ चेतन, ब्रह्म माया अथवा प्रकृति पुरुष नामों से पुकारा गया है। इन दोनों तत्त्वों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों का समावेश हो जाता है।

हाँ, भौतिकवादी इन तत्त्वों के बारे में अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि जीव जैसा कोई तत्त्व नहीं होता। सिर्फ परमाणु अर्थात् जड़ होता है वही विकास की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ विभिन्न रूप धारण करता रहता है। यही परमाणु विकास करते-करते जीवाणु बनते हैं, जन्तुओं के आकार प्रकारों में ढलते हैं और वानर से लेकर मानव तक का रूप बदलता रहता है और ये ही जीव जन्तु व मानव मृत्यु की गोद में जाते हुए पुन जड़ पुद्गल रूप में बदल जाते हैं। इस प्रकार भौतिकवादी आत्मा जैसी किसी शक्ति को नहीं मानना चाहते, उनका मानना है कि जैसे भाप की शक्ति से रेलगाड़ी चलती है, बिजली से मशीनें चलती हैं, उसी प्रकार विभिन्न परमाणुओं के सम्मिलन में जीव जन्तु शक्ति प्राप्त करते हैं और अपना जीवन प्रचालित करते हैं किन्तु जब वे परमाणु फिर से विलग हो जाते हैं तो

जीवन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार जिस प्रकार की भाप खत्म हो जाने पर इंजिन ठप हो जाता है। वे जड को ही महत्व देते हैं।

किन्तु जैन दर्शन ऐसी विचारणा को मिथ्या मानता है। चेतन जड से विकसित नही होता, बल्कि एक अलग शक्ति होती है निराकार जो जड के साथ मिलकर ससार के विविध रूपो का निर्माण करता है। जड से जड-परमाणु का विकास हो सकता है, चैतन्य का उसमे कतई विकास नही हो सकता क्योकि जिस पदार्थ मे जो सत्ता है ही नही, वह उसम किसी कदर उत्पन्न नही हो सकती। रेल का इंजिन जड है तो उसम चेतन शक्ति न तो कभी उत्पन्न हो सकती है, न उसकी जड शक्ति कभी भी विकसित होकर चेतन म बदल सकती है। भौतिकवादियो की ऐसी धारणा न तो वास्तविक है, न बुद्धिगम्य ही। क्योकि रजकणो को जीवन-पर्यन्त भी पेलते रहो तो भी कभी उनसे तेल नही निकल सकता, कारण कि तेल की सत्ता अर्थात् स्निग्धता का सद्भाव तिलो मे है किन्तु रजकणो मे नही है तो उसमे से वह सत्ता कभी भी प्रादुर्भूत नही हो सकती। अत जैन दर्शन की मान्यता सत्य है कि चैतन्य शक्ति का विकास चैतन्य शक्ति से ही होता है तथा जड का सम्बन्ध छूट जाने पर चैतन्य शक्ति पुन अपने मौलिक स्वरूप निखिल चैतन्यता मे प्रज्वलित हो उठती है।

तो अब हम विचार करें कि जीवतत्व की परिभाषा क्या ? जीव शब्द का पर्यायवाची है सच्चिदानन्द जिसमें तीन शब्द मिले हुए हैं सत्‌चित् और आनन्द। सत का अर्थ है—"कालत्रय तिष्ठति इति सत्" अर्थात् जो तीनो काल मे स्थायी रहता है वह सत् है। सत् की यह भी व्युत्पत्ति है कि— "उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत", जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाय किन्तु द्रव्य रूप म नित्य व शाश्वत रहे वह सत होता है। हमारे लिए यह सत् है कि हम भूतकाल मे थे, वर्तमान मे हैं और भविष्य मे रहेंगे। इसमे तीनों कालो म द्रव्य रूप से आत्मा नित्य बना रहता है जो कि पर्याप्त रूप से एक ही जीवन मे बाल, युवा, वृद्धत्व की अवस्थाए बदलती हैं और एक जीवन के बाद दूसरा जीवन आत्मा धारण करता रहता है। तो जब

बाल्यकाल हो या कि वृद्धावस्था अथवा एक जीवन हो या कि दूसरा जीवन, इन सब अवस्थाओं मे जिस एक रूप चैतन्य की अनुभूति होती रहती है, वही आत्मा का रूप है, जीव की शक्ति है। शारीरिक दशाओं में अथवा जन्म-मरण की योनियों मे परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मा नहीं पलटता है। जैसे कि गीता में भी कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

देह मे रहने वाला देह का अधिष्ठाता देह के बाल, युवा, व वृद्ध रूप मे पलटने पर भी स्वयं नहीं पलटता है। शरीर की तो व्याख्या ही यह की गई है कि जो शनैः शनैः क्षरण होता रहता है, क्षीणत्व को प्राप्त करता रहता है लेकिन उसमे व्याप्त, उसका द्रष्टा आत्मा सदा काल शाश्वत रहता है। अतः उसे सत् माना गया है। इसमे भी एक तर्क उत्पन्न होता है कि क्या सत् उसे माना जाय जो त्रिकाल मे स्थायी बना रहता है और वह सत् चैतन्य होता है तो सिर्फ यही व्याख्या शंकास्पद हो सकती है क्योंकि जड भी त्रिकाल में बना रहता है तो क्या वह भी सत् होकर चैतन्य हो गया।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। चैतन्य का रूप जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सत् चित् और आनन्द तीनों गुणों में पूर्णतया प्रगट होता है। जड में इस तरह सत गुण तो है किन्तु अन्य गुण तो नहीं है इसलिए वह चेतन नहीं कहला सकता।

चेतन का दूसरा गुण है चित् अर्थात् जो अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही प्रकाशमान होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है। जैसे अन्धकार में रखे हुए घट-पटादि को कोई व्यक्ति देखने लगे तो वह उन्हें देख नहीं सकेगा क्योंकि घट पट में प्रकाशित होने की शक्ति नहीं, उन्हें बाहर के प्रकाश की अपेक्षा रहती है। अगर वह व्यक्ति दीपक लेकर वहाँ जाय तो उन घट-पटादि को देख सकेगा। अतः जिस प्रकार घट पटादि को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है किन्तु स्वयं दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि दीपक स्वयं

प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा स्वय प्रकाशमान होता है तथा दूसरो को भी प्रकाशित करता है। हमे अनिष्ट पदार्थ से दुःख उत्पन्न होता है, इष्ट से सुख मिलता है तो यह जो अनुभव होता है कि दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है, वह आत्मा स्वय करता है और उसी अपने अनुभव को वह दूसरो पर प्रकट भी करता है तब वही अनुभव दूसरो के लिए भी ज्ञान का रूप धारण कर लेता है एव यह अनुभव और ज्ञान की सृष्टि का सवाहक तथा सचालक बनता है।

जैसे व्याख्यान मे बहिनें बैठी हुई है वे जब अपने रसोईघर मे पकवान बनाती हैं तो उस समय उन्हे चख भी लेती हैं यह मालूम करने के लिए कि उनका स्वाद ठीक तो बन पडा है। वह स्वाद जब उन्हे सुरुचिकर लगता है तो व यह समझ लेती है और सही समझ लेती हैं कि वही स्वाद दूसरे खाने वाले भी अनुभव करेंगे, क्योकि वे स्वय प्रकाशित होकर दूसरो को भी प्रकाशित कर रही हैं। यही शक्ति चैतन्य शक्ति है। क्या यह ज्ञान और अनुभूति जड में हो सकती है ? सत् होते हुए भी चित् जड मे नहीं है।

चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। हम हैं और हम अनुभव करते हैं उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है। जब इन्द्रिय जन्म इष्ट विषयो का भी सयोग इन्द्रियो के साथ होता है तो उससे चाहे वह क्षणिक हो किन्तु जो एक विभोरावस्था पैदा होती है वह भी जिस प्रकार आनन्द लगता है और आनन्द विभोर होकर नाचने-कूदने की अवस्था पैदा होती है तो जब आत्मा ज्ञान मे रमण करता है, अपने पराक्रम का अनुभव करता है तो उसमें जिस अलौकिकता का भाव जागता है वही चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। इन्द्रिय जन्य आनन्द को आनन्दाभास कहा है क्योकि वह आनन्द क्षणिक होता है और आत्मा को आनन्दमय नही बनाता। उसका परिणाम कटु होता है इसलिए आत्मिक आनन्द वही है जो आत्मिक गुणो की परिवृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और परिवृद्ध होता रहता है।

वैसे मानव आनन्द की अनुभूति तीन दशाओ मे करता है—जागृति, सुषुप्ति एव स्वप्निल। जागते हुए इन्द्रिय जन्य सुखो का उपभोग किया जाता

बाल्यकाल हो या कि वृद्धावस्था अथवा एक जीवन हो या कि दूसरा जीवन, इन सब अवस्थाओं में जिस एक रूप चैतन्य की अनुभूति होती रहती है, वही आत्मा का रूप है, जीव की शक्ति है। शारीरिक दशाओं में अथवा जन्म-मरण की योनियों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मा नहीं पलटता है। जैसे कि गीता में भी कहा है—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

देह में रहने वाला देह का अधिष्ठाता देह के बाल, युवा, व वृद्ध रूप में पलटने पर भी स्वयं नहीं पलटता है। शरीर की तो व्याख्या ही यह की गई है कि जो शनैः शनैः क्षरण होता रहता है, क्षीणत्व को प्राप्त करता रहता है लेकिन उसमें व्याप्त, उसका दृष्टा आत्मा सदा काल शाश्वत रहता है। अतः उसे सत् माना गया है। इसमें भी एक तर्क उत्पन्न होता है कि क्या सत् उसे माना जाय जो त्रिकाल में स्थायी बना रहता है और वह सत् चैतन्य होता है तो सिर्फ यही व्याख्या शंकास्पद हो सकती है क्योंकि जड़ भी त्रिकाल में बना रहता है तो क्या वह भी सत् होकर चैतन्य हो गया।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। चैतन्य का रूप जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सत् चित् और आनन्द तीनों गुणों में पूर्णतया प्रगट होता है। जड़ में इस तरह सत गुण तो है किन्तु अन्य गुण तो नहीं है इसलिए वह चेतन नहीं कहला सकता।

चेतन का दूसरा गुण है चित् अर्थात् जो अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही प्रकाशमान होकर दूसरा को भी प्रकाशित करता है। जैसे अन्धकार में रखे हुए घट-पटादि को कोई व्यक्ति देखने लगे तो वह उन्हें देख नहीं सकेगा क्योंकि घट पट में प्रकाशित होने की शक्ति नहीं, उन्हें बाहर के प्रकाश की अपेक्षा रहती है। अगर वह व्यक्ति दीपक लेकर वहाँ जाय तो उन घट-पटादि को देख सकेगा। अतः जिस प्रकार घट पटादि को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है किन्तु स्वयं दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि दीपक स्वयं

प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा स्वय प्रकाशमान होता है तथा दूसरो को भी प्रकाशित करता है। हमे अनिष्ट पदार्थ से दु ख उत्प न होता है, इष्ट से सुख मिलता है तो यह जो अनुभव होता है कि दु ख अप्रिय है और सुख प्रिय है, वह आत्मा स्वय करता है और उसी अपने अनुभव को वह दूसरो पर प्रकट भी करता है तब वही अनुभव दूसरो के लिए भी ज्ञान का रूप धारण कर लेता है एव यह अनुभव और ज्ञान की सृष्टि का सवाहक तथा सचालय बनता है।

जैसे व्याख्यान मे बहिनें बैठी हुई है वे जब अपने रसोईघर मे पक्वान बनाती हैं तो उस समय उन्हें चख भी लेती हैं यह मालूम करने के लिए कि उनका स्वाद ठीक तो बन पडा है। वह स्वाद जब उन्हे सुरुचिकर लगता है तो वे यह समझ लेती है और यही समझ लेती हैं कि वही स्वाद दूसरे खाने वाले भी अनुभव करेंगे, क्योकि वे स्वय प्रकाशित होकर दूसरो को भी प्रकाशित कर रही हैं। यही शक्ति चैतन्य शक्ति है। क्या यह ज्ञान और अनुभूति जड में हो सकती है ? सत् होते हुए भी चित जड मे नहीं है।

चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। हम हैं और हम अनुभव करते हैं उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है। जब इन्द्रिय जन्य इष्ट विषयो का भी सयोग इन्द्रियो के साथ होता है तो उससे चाहे वह क्षणिक हो किन्तु जो एक विभोरावस्था पैदा होती है वह भी जिस प्रकार आनन्द लगता है और आनन्द विभोर होकर नाचने-कूदने की अवस्था पैदा होती है तो जब आत्मा ज्ञान मे रमण करता है, अपने पराक्रम का अनुभव करता है तो उसमें जिस अलौकिकता का भाव जागता है वही चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। इन्द्रिय जन्य आनन्द को आनन्दाभास कहा है क्योकि वह आनन्द क्षणिक होता है और आत्मा को आनन्दमय नही बनाता। उसका परिणाम कटु होता है इसलिए आत्मिक आनन्द वही है जो आत्मिक गुणो की परिवृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और परिवृद्ध होता रहता है।

वैसे मानव आनन्द की अनुभूति तीन दशाओ में करता है—जागृति, सुषुप्ति एव स्वप्निल। जागते हुए इन्द्रिय जन्य सुखो का उपभोग किया जाता

है। अशुभ कर्मों से पाप का बंध होता है और दुःखदायक परिणाम देता है। उसी तरह शुभ कार्मों से पुण्य का बंध होता है और वह सुखद फल देता है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य प्रकृति में आत्मिक साधना में भी सहायक होती हुई वीतराग अवस्था के गुण स्थानों में भी रहती है लेकिन मोक्ष की दृष्टि से वह पुण्य प्रकृति भी त्यागनी पड़ती है और पापानुबन्धी पुण्य प्रकृति में संसार बढ़ाने में सहायक होती है। इसके चक्कर से आत्मा जड़ से सम्बन्धित ही रहती है, जड़ से छूटकर मुक्ति की मंजिल तक नहीं पहुँच सकती।

अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आश्रव तत्व कहा है आश्रव तत्व से आत्मा की मलिनता बढ़ती रहती है और वह संसार के कीचड़ में अधिक से-अधिक दुर्दशाग्रस्त होकर फँसता रहता है। शुभ योग तथा योग निरोध को संवर कहा है। यद्यपि संवर तत्व आत्मोत्थान में सहायक होता है किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है। शुभ कर्मों से शुभ संयोग मिलते हैं और आत्मा को ज्ञान उद्‌बोध मिलता है तथा उसमें मुक्ति हित पराक्रम करने की भावना जागती है लेकिन आत्मा को मोक्ष प्राप्ति तभी होगा जब शुभ योग (पुण्य) भी आत्मा छुटकारा प्राप्त कर लेगी। क्योंकि नदी नाव से अन्दर पार होगी किन्तु पार करके किनारे पर पहुँचने के लिए नाव का सहारा भी छोड़ देना पड़ेगा। उसी तरह पुण्यतत्व मुमुक्षु आत्मा को संसार से वैराग्य लाने में सहायता करेगा किन्तु मुक्ति में पहुँचाने के लिए आत्मा को पुण्य का आश्रय भी छोड़ना ही पड़ेगा।

संलग्न कर्म पुद्‌गलों से आत्मा को छुटाने वाला तत्व है निर्जरा तत्व। निर्जरा का अर्थ है कर्म क्षय। जहाँ पिछले तत्व शुभ व अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं वहाँ इस तत्व द्वारा कर्मों का नष्ट करना है। जब साधना और त्याग की उत्कृष्ट सरणियों में आत्मा विहार करता है एवं सांसारिकता की गुत्थियों से बहुत ऊपर उठकर अपने मूल स्वरूप सत चित् और आनन्द में तल्लीन हो जाता है तो सभी के प्रकार कर्म क्षय होने लगते हैं अर्थात्

जीव के साथ अजीव का सम्बन्ध क्रमशः टूटता जाता है और चेतन तत्व विशेष से सविशेष रूप प्रकटित होता जाता है।

और एक दिन जब आत्मा जड की लगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देता है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है। इसे ही मोक्षतत्व कहा गया है। तब आत्मा निर्विकार, निराकार रूपी हो जाता है और नित्य व शाश्वत रूप से ससार से विलग हो जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन के ये नौ तत्व समूचा तत्ववाद सासारिक आत्मा से मुक्त आत्मा की प्रक्रिया का दर्शन है या यो कहें कि आत्मा के चरम विकास का गति चक्र है।

इसलिए मैं फिर दोहराऊँ कि परमात्मा का भजन करो इसका अर्थ है कि आत्मा के स्वरूप को समझो और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तभी स्पष्ट हो सकेगा जब इस तत्ववाद को हम हृदयगम कर लेंगे। तत्ववाद से ही हम जान सकेंगे कि आत्मा कैसे गिरता है और कैसे उठता है? वे कौनसी जड शक्तियाँ है जो आत्मा को मलिन बनाती हैं और उनसे छुटकारा पाने की कौनसी साधना है जिससे आत्मा ऊपर से ऊपर उठती जायगी? अत इस तत्ववाद का चिन्तन, मनन कीजिये ताकि हम भी अपनी आत्मा-स्थिति का उत्थान करके एक दिन अन्तिम तत्व की प्राप्ति कर सकें। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

अलवर ता० २४-३ १६५७

आशय समस्त प्राणियों की जय बोलता है। मस्तिष्क की जय बोलने में सभी अंगों की स्वाभाविक जय समझी जाती है, क्योंकि सभी अंगों का पारस्परिक सहयोग के नाते कदाचित अभिन्न सम्बन्ध है। मस्तिष्क का अस्तित्व ही इस बात पर है कि उदर रस बनाकर भोजन पचाता है या नहीं, पैर और हाथ इधर उधर सब जगहों में भटक कर उसे अनुभव लेने का अवसर देते हैं या नहीं, अ यथा अन्य अंगों के सहयोग के बिना मस्तिष्क अपनी उन्नत श्रेणी तक कभी नहीं पहुँच सकता। सभी अंगों के सहयोगपूर्ण सम्मिलित कार्य में ही शरीर की सुन्दरता तथा स्वस्थता का सद्भाव हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि समाज के सहयोग से ही व्यक्ति का विकास होता है और वह उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है। जैसे सभी अंगों के कारण से मस्तिष्क विचारक्षम व गंभीर चिन्तन करने वाला होता है, उसी तरह समाज के सरस सौहार्द मय वातावरण में ही महान् विभूतियों और महात्माओं का जन्म होता है और जैसे मस्तिष्क अधिक विचारक्षम होने के पश्चात् अन्य अंगों का विशेष रूप से रक्षण व पोषण करता है, उसी प्रकार वे महान् विभूतियाँ और महात्मा अपना सब कुछ समाज के हितार्थ बलिदान कर देते हैं। किन्तु ये महान् विभूतियाँ जब मुक्त हो जाती हैं, निर्वाण प्राप्त कर लेती हैं, तब वे कवि के शब्दों में 'जगत् शिरोमणि' हो जाती हैं और फिर ये 'शिरोमणियाँ' अपने शुभ्र एवं धवल प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को आलोकित कर देती हैं।

सभी अंगों के समुचित सहयोग का प्रश्न समाज के निज के सामूहिक विकास के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। जब तक अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थों का समाज में प्रत्यावर्तन होता रहता है, तब तक सामाजिक जीवन में शान्ति रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सभी अंगों की सहायता से शरीर के पोषक तत्त्व रक्त द्वारा शरीर के सभी भागों में पहुँचाये जाते हैं। किन्तु जब यह प्रत्यावर्तन बन्द हो जाता है या रुक जाता है, चाहे वह समाज में हो या शरीर में, तभी स्वास्थ्य बिगड़ने लग जाता है। जब समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के हृदय में संग्रह की

भावना उत्पन्न होती है, अपनी ही स्वार्थपूर्ति की आकांक्षा सजग हो उठती है, तब समाज में संघर्षपूर्ण विषमता पैदा होती है और वह सामाजिक अशान्ति का मूल कारण बन बैठती है।

आज का संघर्ष भी पूंजीपतियों की बढ़ती हुई धनलिप्सा एवं अन्यायपूर्ण भावना ही है। संग्रह वृत्ति की राक्षसी मदान्धता ने ही चोर बाजार, रिश्वत आदि अमानुषिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। अत पूंजीपति जब तक अपनी संचय बुद्धि को त्याग कर अपने द्रव्य का आवश्यकतानुसार वितरण करने की ओर नहीं झुकेंगे, तब तक राष्ट्र और समाज में विषमता का नाश होकर शान्ति की स्थापना होना दुष्कर है। जैसे शरीर अपने अंगों में विभेद न रखकर ही स्वस्थ रह सकता है, उसी प्रकार समाज की स्वस्थता भी परिग्रह का साम्यदृष्टि से वितरण करने में है।

अब मैं समाज की वर्तमान वर्ण व्यवस्था की आलोचना करते हुए बतलाना चाहूँगा कि समाज के विभिन्न अंगों में क्योंकर भेद उत्पन्न कर दिया गया और इसके कारण किस प्रकार एक अंग पोषण और दूसरा अंग पोषण के अभाव में विकृत हो चला? इसके साथ यह भी बताऊँगा कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कब और किस उद्देश्य को दृष्टिकोण में रखकर हुई?

जैसे शरीर के चार प्रमुख अंग होते हैं, उसी प्रकार समाज में कर्त्तव्यों को दृष्टि में रखकर चार वर्णों की स्थापना हुई। जो लोग सशक्त और युद्ध-कला में निपुण थे, उन्होंने रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और वे क्षत्रिय कहलाये। जिन लोगों को अध्ययन और आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक रुचि थी, वे ब्राह्मण कहलाये और उन्होंने समाज में नीति व धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। जिस समुदाय को शूद्र कहा जाता है, उसने अपनी सर्वोच्च व तीव्र सेवा भावना से समाज की नीची-से नीची सेवा करने की इच्छा प्रकट की और समाज के हर तरह के काम के लिए उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया। किन्तु इन तीनों वर्गों के भरण-पोषण का सवाल उठ खड़ा हुआ। सभी समाज के अलग अलग कामों को पूरा करेंगे, मगर खाना कहाँ

से आवेगा ? तो समाज के एक हिस्से ने यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि व्यापार, खेती आदि साधना से जीवनोपयोगी पदार्थ उत्पन्न कर यह समुदाय समग्र समाज के भरण पोषण का प्रबन्ध करेगा तथा यह समुदाय 'वैश्य' कहलाया।

समाज की सुव्यवस्था को लक्ष्य में रखकर ही सम्भवतः यह वर्ण-विभाग हुआ होगा, किन्तु समय प्रवाह के साथ यह वर्ण विभाग विकृत की ओर बढ़ चला। कर्त्तव्य की अपेक्षा जातिवाद को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अपने को श्रेष्ठ बताकर अपनी ही पूजा प्रतिष्ठा कराने के लिए अन्य वर्णों का तिरस्कार और निरादर किया जाने लगा। शूद्रों को सबसे निकृष्ट माना जाने लगा, जिन्होंने समाज की कठोरतम सेवा करना स्वीकार किया था और तो क्या, शूद्रों को शास्त्र सुनने का भी अधिकार नहीं बताया गया। यदि कोई भूल से सुन लेता तो उसके कानों में गरम शीशा डाल दिया जाता था। शूद्रों का तिरस्कार करने की प्रवृत्ति का जन्म ब्राह्मण संस्कृति की विकृति से ही हुआ।

ब्राह्मण यदि आचार विचार से श्रेष्ठ है और इसलिए वह ऊँचा रहे तो इसमें किसी की असहमति नहीं हो सकती, किन्तु शूद्रों का, क्योंकि वे शूद्र हैं, तिरस्कार करना सर्वथा अन्याय है। शरीर के अन्य अंगों को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके तथा सिर पर मुकुट लगाकर सुन्दर साफा बाँधकर शरीर के निम्न भाग को तिरस्कृत समझ यदि नग्न ही रखा जाय तो वह शोभनीय प्रतीत होगा ? वह तो शरीर का एक उपहासास्पद स्वरूप हो जायगा। यही आज के समाज का हाल है।

जैन संस्कृति का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि—

कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
कम्मुणा वैसओ भवई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥

कर्म पर्याय भाव (आचार-विचार) में ही ब्राह्मणत्व आदि का आरोप किया जा सकता है। जैन संस्कृति वर्ण को कसौटी के रूप में नहीं मानती कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण ही है, चाहे वह शिकारी, हत्यारा और चोर

सब कुछ हो, तथा शूद्र का बेटा शूद्र ही हो, चाहे त्याग और चारित्र्य की दृष्टि से उसका जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय बना हुआ है। जैन संस्कृति तो गुण पूजक है। वह क्षत्रिय, ऋषभ, महावीर आदि तीर्थंकरों, ब्राह्मण गौतम आदि गणधरों, वैश्य धन्ना, शालिभद्र महान् त्यागियों और शूद्र (भंगी) हरिकेशी आदि मुनिवरों की सबकी हृदय से आराधना और उपासना करने का आदेश देती हैं। इसलिए नहीं कि वे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, या शूद्र थे, बल्कि इसलिए कि वे गुणधारी थे, उन्होंने निज का जीवन विकसित कर अन्य प्राणियों के जीवन विकास की ओर अपनी सभी शक्तियाँ को लगाया। जैन संस्कृति के सामने वर्ण का कतई दृष्टिकोण नहीं है, उसके सामने तो आत्मिक विकास की महिमा है।

आज समाज के हरिजन उद्धार की एक समस्या है। महात्मा गांधी ने इस क्षेत्र में महान आन्दोलन किया है और अब तो भारतीय संविधान द्वारा छुआछूत को अपराध करार दे दिया गया है। किन्तु यह समस्या अब भी समस्या है और जब तक विचारों में जोरदार आन्दोलन नहीं होगा, यह समस्या हल नहीं हो सकती। समाज में हरिजन यदि अपना काम [illegible] छोड़ दें तो तत्काल अन्य वर्णों की तबियत ठिकाने आ जाय। भारत [illegible] मानवता के क्रूर अपमान का दृश्य इस रूप में हम देखने [illegible] है। कुत्तों को चूम चूमकर प्यार किया जाता है, किन्तु भूख और [illegible] हुए इस मानव की ओर रूढ़िवादी सवर्ण देखना भी नहीं चाहता। [illegible] गंज में मुझे एक भाई ने पूछा कि 'हरिजन का हमारे मन्दिर [illegible] न हो इसके लिए हमारे एक मुनि (दिगम्बर) ने अनशन [illegible] दिये, इस विषय में आपका क्या विचार है?'

मैंने कहा— 'जैन दर्शन में तो जातिवाद को [illegible] दिया गया है, फिर छुआछूत का उसके सामने विचार ही [illegible] जीवन व्यतीत करने वाले हरिजन के लिए भेदभाव [illegible] सकता।"

जैन दर्शन विशाल और व्यापक विचारधारा [illegible] है।

मानव ही नहीं, प्रत्येक प्राणी को समता की दृष्टि से देखता है। किन्तु इसका ही एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो अन्य दर्शनों के समान संकुचित विचार धारा रखता है। वह है दिगम्बर सम्प्रदाय, जो शूद्र को मोक्ष का अधिकारी नहीं मानता और इस प्रकार शूद्र व स्त्री को मोक्ष के अधिकार से वंचित कर दिया है। प्रतिगामी विचारों का ही प्रदर्शन किया है। उनका कहना है कि गुणस्थान मे अर्थात् साधुत्व मे स्त्री गोत्र का उदय नहीं होता और शूद्र मे नीच गोत्र का उदय है, एतदर्थ वह उच्च गुणस्थान को स्पर्श नहीं कर सकता और उसका स्पर्श किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह उपयुक्त है किन्तु 'गोत्र' शब्द से जाति का अर्थ लेना कतई ठीक नहीं कहा जा सकता। जाति विशेष को लक्ष्य में रखकर गोत्र शब्द की व्याख्या इसी सम्प्रदाय ने की है। किन्तु ठाणायाग सूत्र की टीका में 'गोत्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

"अयं सत्पुरुष, अयं धर्मात्मा, अयं सदाचारी, एतादृशीं गां वाणीं त्रायते, रक्षतेति उत्तम गोत्र।"

अर्थात्—श्रेष्ठ वक्तव्य के द्वारा जो श्रेष्ठ वाणी की रक्षा करता है, वह उच्च गोत्र वाला है। और—

"अयं शूद्र, अयं दुराचारी, अयं दुष्टात्मा, एतादृशीं गां वाणीं त्रायते रक्षतेति नीच गोत्र।"

अर्थात्—अपने नीच कर्म द्वारा निकृष्ट वाणी की जो रक्षा करता है, वह नीच गोत्र वाला है।

इस प्रकार ऊंच नीच गोत्र जाति विशेष से नहीं, किन्तु भावना व कर्म विशेष से है। गुणस्थान का स्पर्श भी भावना से होता है। निकृष्ट स्थान में भी उत्पन्न व्यक्ति श्रेष्ठ भावना रखता है तो वह ऊपर के गुण स्थानों का स्पर्श कर सकता है। हरिकेशी मुनि का ज्वलन्त उदाहरण इसी सत्य को स्पष्ट करता है। वे मुनि हरिजन कुल में पैदा होने पर भी अपने दिव्य गुणों के कारण, देवेन्द्र, नरेन्द्र और क्रियाकांडी, जातीयाभिमानी विप्रों के भी पूजनीय बने थे। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विशिष्ट गुण-

मुक्त व्यक्ति ही उत्तम गुणस्थानो का स्पर्श कर सकता है। उसमे जाति का कोई महत्व नही। ऊँच और नीच गोत्र कषायो पर ही अवलम्बित है। तीव्र कषाय वाला नीच गोत्रीय है और मन्द कषाय वाला ऊँच गोत्रीय।

अत जिस प्रकार अशुचि के साफ करने से हम माता को घृणित नही समझ लेते, बल्कि उसके प्रति विनम्र और आज्ञाकारी होते है, उसी प्रकार हरिजन भी समाज के लिए माता के तुल्य समझे जा सकते है और इनके प्रति भी यथायोग्य समान व्यवहार की आवश्यकता है।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही है कि सर्वोदयवाद के महत्व को समझें और परमात्मा की जय बोलने मे सब प्राणियो के साथ साम्य दृष्टि को अपनाएँ। वैभव और ये शरीर आदि सब नश्वर हैं, एक दिन नष्ट हो जायँगे और साथ रह जायगा वही, जो कुछ किया है। जैनशास्त्रो मे परदेशी राजा का उदाहरण आता हैं, जिसके हाथ निर्दोषो के खून से सने रहते थे, वह भी केशी श्रमण के उपदेश से त्याग पथ की ओर अग्रसर हुआ। आज भी उसी त्याग की आवश्यकता है, समाज की सघर्षमय विषमता को मिटाने के लिए। शोषण का हमेशा के लिए खात्मा कर दिया जाय, इसके लिए अपनी वासनाओ और आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिए और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यों के लिए निर्धारित किया जाना चाहिए। आप यहाँ बैठे हुए सज्जन भी दान आदि शुभ कार्य का अपना हिस्सा निकालने का व्रत लें। इस पर कई श्रावको ने ऐसा व्रत लिया।

अन्त मे यही कहना चाहता हूँ कि समस्त प्राणिया को आत्मवत् समझें, सबसे प्रेम करें, सबकी रक्षा करे, यही सर्वोदयवाद है और इसी में परमात्मा की जय यथार्थ रूप से बोली जा सकती है।

कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इन सब जीवों को क्रीडा कराकर निश्चित अवधि पर समाप्त कर देता है। परन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर, ईश्वर नहीं रहता। यह तो बच्चों के खिलौने की तरह कल्पना कर ली है। जैन दर्शन ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार नहीं मानता।

आज प्रात मैं बाहर जाकर आ रहा था कि एक भाई मिले। बातचीत के दौरान में उन्होंने पूछा कि आज किस विषय पर व्याख्यान होगा। मैंने कहा कि मैं हमेशा ईश्वर प्रार्थना बोलता हूँ सो आज पूरा व्याख्यान ही ईश्वर-प्रार्थना पर होगा। वे बोले—जैन और बौद्ध तो ईश्वर का मानते ही नहीं, फिर आप ईश्वर प्रार्थना के विषय मे व्याख्यान कैसे देंगे ? व भाई ही क्या, दूसरे कई दार्शनिक भी जैनधर्म के तत्व को नही समझने के कारण कह देते हैं कि जैनधर्म अनीश्वरवादी है, अत नास्तिक है।

जिन लोगों ने ईश्वर को कुम्हार की तरह एकान्त रूप से कर्ता मान लिया है और राजा का तरह उसे नियन्ता मान लिया है, वे अपनी इच्छा-नुसार ईश्वर की कल्पना मानने वाले को ही ईश्वरवादी और आस्तिक समझते हैं एव अन्य लोगो को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहते हैं। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर जैनधर्म को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहा जाता है, पर वे यह नहीं समझते कि जैनों के २४ तीर्थङ्कर हुए हैं तथा उनके नमस्कार मन्त्र में पहले और दूसरे पद पर जिन अरिहत और सिद्धों को नमस्कार किया गया है वे ईश्वर ही हैं।

जैनधर्म मे ईश्वर की जो परिभाषा दी गई है, वही अनुभव के धरातल पर सिद्ध और तर्क की कसौटी पर सत्य ठहरती है। ईश्वर के सत्य स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वादी व नयात्मक दृष्टिकोण से जैनधर्म में ईश्वर तीन प्रकार के माने गये हैं यानि ईश्वरत्व को तीन रूपों में देखा गया है।

ईश्वर के वे तीन प्रकार इस तरह माने गये हैं—(१) सिद्ध, (२) मुक्त और (३) बद्ध।

सिद्ध ईश्वर का स्वरूप निरंजन, निराकार, निरामय, ज्योति स्वरूप माना गया है। आचारांग सूत्र में सिद्धस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। जिसके

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, सठान आदि नही हैं व जिनके कोई लिंग नहीं है—वे सिद्ध हैं। उनके न राग है, न द्वेष। किसी प्रकार का कर्म फल जिनके सलग्न नहीं है। उन्होंने आत्म स्वरूप की उज्ज्वलता के बाधक अष्टकर्मों को नष्ट कर दिया है और जो शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थित हो गये हैं। सिद्ध शब्द का शब्दार्थ भी यही है—सिज् बन्धने एव ध्मा अग्निसंयोगे धातुओं से यह शब्द बना है जिसका अर्थ होता है कि प्रकृति के समस्त बन्धनों को नष्ट करने वाले। इस प्रकार जैनधर्म मे सिद्ध ईश्वर उन आत्माओं को माना गया है जो अपने स्वरूप की परमोज्ज्वलता को प्राप्त कर ससार से समस्त बन्धनों से विमुक्त हो निराकार आदि निर्बन्ध रूप मे प्रतिष्ठित हो गई हैं। उन आत्माओं का ससार से कोई सम्बन्ध नही रहता, वे ससार की किसी भी प्रवृत्ति को प्रेरित नही करती।

दूसरा प्रकार है मुक्त ईश्वर का। मुक्त ईश्वर वे आत्माएँ हैं जिन्होंने शरीर मे रहते हुए अपने समस्त विकारो के कलुष को धो डाला है। काम, क्रोध का जिनमे अंश भी नही है—राग द्वेष की भावना को समूल नष्ट कर दिया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय कर्मों को क्षय करके जिन्होंने अपनी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति को प्रकटित कर दिया है। ऐसे महापुरुष जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं तथा स्वस्वरूप मे रमण करते हैं, वे मुक्त ईश्वर हैं या जिन्हें जीवन मुक्त कह दें। भगवान् महावीर आदि तीर्थङ्कर इसी भूमिका पर थे। नमस्कार मन्त्र में पहले पद पर जिन अरिहंतो को नमस्कार किया है वे हैं मुक्त ईश्वर और दूसरे पद पर जिनको नमस्कार किया गया है वे हैं सिद्ध ईश्वर। सिद्ध ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले भी मुक्त ईश्वर ही है अत उनका पद पहला रखा गया है।

तीसरे, बद्ध ईश्वर ससार की समस्त आत्माएँ हैं जो चार गति चौरासी लाख जीव योनियों मे बिखरी हुई हैं। बद्ध माने कर्मों मे बधा हुआ। ये ससार की समस्त आत्माएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेष आदि के कारण अपने आत्म स्वरूप को भूली हुई है और आठो प्रकार के कर्मों का बन्ध करती

कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इन सब जीवों को क्रीडा कराकर निश्चित अवधि पर समाप्त कर देता है। परन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर, ईश्वर नहीं रहता। यह तो बच्चो के खिलौने की तरह कल्पना कर ली है। जैन दर्शन ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार नहीं मानता।

आज प्रात मैं बाहर जाकर आ रहा था कि एक भाई मिले। बातचीत के दौरान में उन्होंने पूछा कि आज किस विषय पर व्याख्यान होगा। मैंने कहा कि मैं हमेशा ईश्वर प्रार्थना बोलता हूँ सो आज पूरा व्याख्यान ही ईश्वर प्रार्थना पर होगा। वे बोले—जन और बौद्ध तो ईश्वर को मानते ही नही, फिर आप ईश्वर प्रार्थना के विषय मे व्याख्यान कैसे देंगे? व भाई ही क्या, दूसरे कई दार्शनिक भी जैनधर्म के तत्व को नही समझने के कारण कह देते हैं कि जनधर्म अनीश्वरवादी है, अत नास्तिक है।

जिन लोगो ने ईश्वर को कुम्हार की तरह एकान्त रूप से कर्ता मान लिया है और राजा का तरह उसे नियन्ता मान लिया है, वे अपनी इच्छानुसार ईश्वर की कल्पना मानने वाले को ही ईश्वरवादी और आस्तिक समझते हैं एव अन्य लोगो को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहते है। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर जनधर्म को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहा जाता है, पर वे यह नही समझत कि जैनों के २४ तीर्थङ्कर हुए हैं तथा उनके नमस्कार मन्त्र में पहले और दूसरे पद पर जिन अरिहंत और सिद्धो को नमस्कार किया गया है वे ईश्वर ही हैं।

जैनधर्म मे ईश्वर की जो परिभाषा दी गई है, वही अनुभव के धरातल पर सिद्ध और तर्क की कसौटी पर सत्य ठहरती है। ईश्वर के सत्य स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वादी व नयात्मक दृष्टिकोण से जैनधर्म में ईश्वर तीन प्रकार के माने गये हैं याकि ईश्वरत्व को तीन रूपों मे देखा गया है।

ईश्वर के वे तीन प्रकार इस तरह माने गये हैं—(१) सिद्ध, (२) मुक्त और (३) बद्ध।

सिद्ध ईश्वर का स्वरूप निरजन, निराकार, निरामय, ज्योति स्वरूप माना गया है। आचाराग सूत्र मे सिद्धस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। जिनके

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, सठान आदि नही हैं व जिनके कोई लिंग नहीं है— वे सिद्ध हैं। उनके न राग है, न द्वेष। किसी प्रकार का कर्म फल जिनके सलग्न नहीं है। उन्होने आत्म स्वरूप की उज्ज्वलता के बाधक अष्टकर्मों को नष्ट कर दिया है और जो शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थित हो गये हैं। सिद्ध शब्द का शब्दार्थ भी यही है—सिञ् बन्धने एव ध्मा अग्निसयोगे धातुओ से यह शब्द बना है जिसका अर्थ होता है कि प्रकृति के समस्त बन्धनो को नष्ट करने वाले। इस प्रकार जैनधर्म मे सिद्ध ईश्वर उन आत्माओ को माना गया है जो अपने स्वरूप की परमोज्ज्वलता को प्राप्त कर ससार से समस्त बन्धनो से विमुक्त हो निराकार आदि निबन्ध रूप मे प्रतिष्ठित हो गई हैं। इन आत्माओ का ससार से कोई सम्बन्ध नही रहता, वे ससार की किसी भी प्रवृत्ति को प्रेरित नहीं करती।

दूसरा प्रकार है मुक्त ईश्वर का। मुक्त ईश्वर वे आत्माएँ हैं जिन्होंने शरीरो मे रहते हुए अपने समस्त विकारो के कलुष को धो डाला है। काम, क्रोध का जिनमे अश भी नही है—राग द्वेष की भावना को समूल नष्ट कर दिया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय कर्मो को क्षय करके जिन्होंने अपनी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति को प्रकटित कर दिया है। ऐसे महापुरुष जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं तथा स्वस्वरूप में रमण करते हैं, वे मुक्त ईश्वर हैं या जिन्हें जीवन मुक्त कह दें। भगवान् महावीर आदि तीर्थङ्कर इसी भूमिका पर थे। नमस्कार मन्त्र में पहले पद पर जिन अरिहतो को नमस्कार किया है वे हैं मुक्त ईश्वर और दूसरे पद पर जिनका नमस्कार किया गया है वे हैं सिद्ध ईश्वर। सिद्ध ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले भी मुक्त ईश्वर ही है अत उनका पद पहला रखा गया है।

तीसरे, बद्ध ईश्वर ससार की समस्त आत्माएँ हैं जो चार गति चौरासी लाख जीव योनियों मे बिखरी हुई हैं। बद्ध याने कर्मों मे बधा हुआ। ये ससार की समस्त आत्माएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेष आदि के कारण अपने आत्म स्वरूप को भूली हुई है और आठो प्रकार के कर्मों का बन्ध करती

रहती है। यह बद्ध ईश्वर ही सृष्टि का निर्माण करता है। वृक्ष को बीज मे रहे हुए आत्मा ने ही बनाया है, पानी मे रहे हुए जीवात्माओ ने पानी की तरलता का निर्माण किया। आज का विज्ञान भी वनस्पति मे तो जीव स्वीकार कर चुका है किन्तु पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि आदि मे नहीं करता। पानी और वायु मे केवल उन्हीं त्रस जीवो को वह मानता है जो दूरवीक्षण यन्त्र से देखे जा सकते हैं पर उनके पिंड नही मानता। जैन दर्शन में इन पिंड शरीरों का विस्तृत वर्णन है कि इनमे जीव कैसे हैं और वे जीवात्मा मिलकर पुद्गलो को ग्रहण करते हुए किस प्रकार इन पदार्थों की रचना करते हैं? हमारे शरीर को भी हमारी आत्मा ने गर्भ मे माता की रसवाहिनी नाडी से रस ले लेकर बनाया है तो उसी तरह सारे बाह्य जगत् की जो सृष्टि है—जो मकान, सडक, रेल मोटर आदि निर्माण कार्यों का जाल बिछा हुआ है वह इन्ही बद्ध आत्माओ की रचना है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीट, पतंग पशु आदि अपने-अपने ढंग से संसार के कई पदार्थों की रचना में योग देते हैं तो मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और अपनी बुद्धि से आज के जगत् की विविध दृश्यावलियाँ निर्मित की है। जैन धर्म इस तरह सृष्टि का कर्त्ता, निर्माता या नियन्ता किसी एक या नित्य या अपूरे ईश्वर को नहीं मानता, वह तो इस समस्त क्रिया कलापों का कर्त्ता उन सब आत्माओं को मानता है जो इस संसार मे बद्ध है और अपने एकाकी या सामूहिक प्रयासो से सृष्टि की रचना म योग देते रहते हैं।

और जैन धर्म की सूक्ष्म सिद्धान्त दृष्टि के अनुसार ये सब बद्ध ईश्वर की तरह निश्चय दृष्टि मे शुद्ध स्वरूपी हैं किन्तु तैजस कार्मण शरीर से बधा हुआ होकर अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ है। जैन दर्शन की इस मान्यता के पीछे आत्माओ को अपने विकास के लिए प्रेरणा का अद्भुत स्रोत बह रहा है। यह नहीं कि आत्मा सिर्फ ईश्वर की छाया है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, बल्कि सभी आत्माएँ पूर्ण विलग व स्वतन्त्र हैं तथा इन सब बद्ध आत्माओ म ईश्वरत्व छिपा पडा है। ये सब शक्ति धारिणी हैं, आवश्यकता है कि व अपनी आत्माओ पर लगे कर्म मल को पूरी तरह धोकर

अपनी शक्ति को चमका दें। सयम और साधना का पुरुषार्थ करते हुए ये बद्ध ईश्वर ही मुक्त ईश्वर हो जाते हैं और शरीर के अंतिम बन्धनों को छोडकर ये ही सिद्ध ईश्वर के चरम स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर भी पहिले बद्ध ईश्वर थे फिर त्याग व तपश्चर्या से अपना विकास साधते हुए मुक्त ईश्वर हुए तथा उसके बाद सिद्ध ईश्वर हो गये ज्योतिस्वरूप निर्मल।

जैन धर्म का जो यह ईश्वरवाद है, वह बडा गूढ है और उसमे स्वय कर्तृत्व की एक उदात्त भावना छिपी हुई है। बद्ध से लेकर प्रसिद्ध स्थिति तक जो आत्मस्वरूप वर्णित किया है उसका स्पष्ट निष्कर्ष है कि प्रारम्भ मे कोई एक ही ईश्वर नही है जो आत्मा सिद्ध होकर ईश्वर हो जाता वे अपनी समस्त ज्ञानादि अनन्त शक्तियो को प्राप्त करके अपने स्वतन्त्र निज स्वरूप रमण मे तल्लीन रहती है और अन्य सिद्ध परमात्माओ की पूर्ण ज्योति के सदृश ज्योतिस्वरूप बन जाती है। तदन्तर उनका ससार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता है फिर कर्त्ता और नियन्ता होने की बात तो कतई दूर है।

ससार को बनाती, बिगाडती या बदलती है ये बद्ध आत्माएँ जो जब सत्कार्यों मे प्रवृत्त होती है अधिकतया तब ससार मे जिसे सतयुग कहे या कुछ और नीति और धर्म का युग चलता है और जब इन बद्ध आत्माओ मे विकृतियाँ बढती हैं तब अनीति और अन्याय का क्रम चलता है। इन बद्ध आत्माओ मे विकास की गति एक ओर ससार मे सामूहिक रूप से अच्छा वातावरण पैदा करती है तो दूसरी ओर इन बद्ध आत्माओ मे से ही जो उच्चतम विकास साध लेती है, उन्हे मुक्त और सिद्ध अवस्थाओ की ओर आगे बढाती है।

तो ससार मे रहा हुआ हर बद्ध आत्मा अपने मे एक प्रेरणा का उत्साह ढाल सकता है क्योकि वास्तविक रूप से वह किसी एक ईश्वर की शक्ति की कठपुतली नही, स्वय अपने विकास के कर्त्ता, नियन्ता और निर्माता है—पुरुषार्थ करने से अनादि से बद्ध आत्मा भी विकास करते हुए मुक्त

और सिद्ध हो सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि हम भी मुक्त होकर सिद्ध हो सकते हैं और इसीलिए परमात्मा की प्रार्थना व स्तुति की जा रही थी ही—

सुविधि जिनेश्वर वन्दियें हो
वन्दत पाप पुलाय।

अब एक और प्रश्न रह जाता है कि जब सिद्ध या मुक्त कुम्भकार की तरह कर्त्ता नहीं है और हमारी प्रार्थना व अप्रार्थना से वह रीझता या रूसता नहीं है तो फिर उसकी प्रार्थना करने क्या लाभ?

प्रार्थना के असली महत्त्व को समझने की दृष्टि से यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं आपको पूछता हूँ कि आप प्रार्थना क्या करना चाहते हैं? संभव है, कई यह समझते होंगे कि प्रार्थना करने से भगवान् हमारी मन की इच्छाएँ पूरी करेंगे और उनकी समझ होती है संसार की इच्छाओं के सम्बन्ध में। मतलब कि भगवान् की प्रार्थना करेंगे। तो धन, परिवार या कि उपयोग आदि की दृष्टि से उनका सुख बढ़ेगा और इस सम्बन्ध में कोई कष्ट आवेगा ही नहीं या आवेगा तो भगवान् उसे दूर कर देंगे। अथवा प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न रहेंगे और भक्त जन पर अपनी कृपा बरसाते ही रहेंगे कि वह कि हीं कष्टों से पीड़ित न हों।

प्रार्थना करने के सम्बन्ध में ऐसी भी भावनाएँ कई दर्शनों में मानी जाती हैं और उसका आधार वही है कि ईश्वर ही संसार में होने वाले हर काय का प्रेरक है। वस्तुतः प्रार्थना या गुणगान ईश्वर को प्रसन्न करने या रिझाने के लिए नहीं किया जाता। वह ईश्वर तो संसार से अलिप्त है, उसे आपकी प्रार्थना से क्या? वह प्रार्थना और गुणगान करना है अपनी ही आत्मा के लिए। उनके गुणों का स्मरण करके, उनके विशुद्ध आत्मस्वरूप पर चिंतन करके हम अपनी आत्मा में विकास की प्रेरणा जगा सकते हैं और उस स्वरूप को आदर्श मानकर उस दिशा में गति कर सकते हैं। इसलिए प्रार्थना व गुणगान से अपनी आत्मा का विकास संभव है। ठीक उसी तरह जिस तरह सूर्य की ऊष्णता से किसान अपनी फसल पकाता है, धान्य की उपलब्धि करता है किन्तु उस उत्पादन से सूर्य का अपना कोई वास्ता नहीं

होता। सूर्य अलिप्त है उस फसल से और धान्य से, वह तो किसान की प्राप्ति है, सूर्य उसमें कर्त्ता नहीं। उसी प्रकार मुक्त और सिद्ध ईश्वर अलिप्त होते हैं, वीतराग होते हैं, किन्तु उनके तेज से यदि बद्ध आत्माएँ प्रेरणा लेकर विकास करना चाहे—आत्मोत्थान की फसल पकाना चाहे तो वे उनके आदर्श को अपने सामने रखकर वैसा कर सकते हैं।

इसी दृष्टि से प्रार्थना और ईश गुणगान का महत्त्व है। उसका सम्बन्ध किसी सासारिक वासना या कामना से नही है। भगवान महावीर ने कहा कि जिन होकर जिन को देख सकोगे अत प्रार्थना की एकाग्रता व तल्लीनता हमे भी विरागी होने की प्रेरणा देती है और एक विरागी ही वीतरागी के स्वरूप का यत्किंचित् दर्शन कर सकता है। प्रार्थना केवल वाणी से नही, मन, वचन और काया द्वारा प्रभु के ध्यान मे तल्लीनता लाने से सफल होती है। एक कवि ने कहा है कि—

खुदा से मिला वो खुदा हुआ,
नहीं जुदा हुआ।

आप लोग खुदा का नाम सुनकर चौंके होंगे कि यह इस्लाम की क्या बात है ? हम तो अनेकान्तवादी हैं, जहाँ भी सत्यांश हो उनको प्रेम से ग्रहण करो और पूर्ण सत्य के दर्शन की चेष्टा करो। खुदा फारसी भाषा का शब्द है। यह शब्द खुदा "खुद आमदन" से बना है जिसका अर्थ होता है स्वयं आया हुआ। आत्मा बना हुआ नही है क्योंकि जो बनता है वह नष्ट भी हो जाता है। जैसे मकान, कपडा, शरीर आदि बनते हैं तो नष्ट हुए देखे जाते हैं, लेकिन आत्मा बना हुआ नहीं है अत खुदा है। अब जो खुदा से मिला, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप मे रमण किया, वह खुदा बन गया, परमात्मा हो गया और जब वह आत्मा एक बार परमात्मा हो गया तो फिर उस ईश्वरत्व से वह कभी जुदा होने वाला नही है। एक बार ईश्वरत्व, सिद्धत्व प्राप्त करने पर आत्मा पुन कभी ससार मे नही लौटता, वह वहीं अनन्त आनन्द में लीन रहता है।

इसलिए शुद्ध विचारणा व शुद्ध भावना से ईश्वर की प्रार्थना करनी

बार आत्मा के सिद्ध-बुद्ध होने पर उसका ससार से किसी भी रूप म कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

और जन दशन की इस मा यता के मूल मे रही हुई है कमण्यता की भावना और समानता का स देश। हर आत्मा बराबर है अपनी शक्ति और अपने स्वरूप की दृष्टि से कि तु उस शक्ति और स्वरूप की प्राप्ति होती है एक कठिन साधना के बाद। इसलिए यह मा यता प्रेरणा जगाती है कि हर आत्मा अपने उत्थान के लिए पराक्रम करे, कम बाधाओ को काटकर मुक्ति के माग पर आगे बढ़ें। हम भी यह मा यता हृदयगम करते हुए मुक्ति पथ पर अग्रसर हों, यही मेरी कामना है।

सब्जी मण्डी, दिल्ली २५-३ १९५१

जैन सिद्धान्तो में सामाजिकता

यह भगवान महावीर की प्रार्थना है। भगवान महावीर का जन्म ढाई हजार वर्ष पहले उस समय हुआ था जब चारो ओर घोर हिंसामय विकृतियाँ छाई हुई थी। पुरोहितो ने धर्म पर ठेका जमा लिया था तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध कराने के वे ठेकेदार बन गये थे। वर्ण व्यवस्था के नाम पर समाज मे फूट, कलह तथा पारस्परिक विद्वेष की भावनाएं प्रबल रूप धारण की हुई थी। छुआछूत के झूठे झगडे पूरी मात्रा मे चल रहे थे और ऊँच-नीच का भेद कटु और वीभत्स हो रहा था। धर्म के नाम पर यज्ञो में घोडे और मनुष्यो तक की बलि दी जाती थी और उसे हिंसा नही कहा जाता था। इस तरह अमानवीय लीला के उस वातावरण मे भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

और जहाँ ज्यादा विकृति फल रही हो, महापुरुषत्व भी उसी में प्रकट होता है कि अन्धकार मे प्रकाश की ज्योति जगाई जाय। फिर महावीर तो युग पुरुष थे। उन्होंने समाज मे नई समानता की भावना का विकास किया। यद्यपि उन्होने जिस जैन शासन को प्रदीप्त किया, उसका मुख्य मार्ग निवृत्ति मार्ग है अर्थात् सासारिक प्रपचो से जितनी मात्रा मे निवृत्त हुआ जा सके, होकर आत्मा को मुक्ति मार्ग की ओर आगे बढाया जाय। प्रत्यक्ष लक्ष्य साफ था लेकिन निवृत्ति की भावना हा ससार के प्राणियो मे कब पैदा होगी, इस प्रश्न पर महावीर ने गम्भीरता से सोचा और उस विकृतियो से भरे युग मे उन्होने एक एक विकृति को चुन-चुनकर मानव हृदयो मे से काटा व एक नये आस्थावान् वातावरण का सजन किया।

यह निश्चय है कि जब तक सासारिक क्षेत्र मे ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नही होगी, समाज मे परस्पर व्यवहार की रीति नीति समान व सम्यक् नही बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भ

साधारण रूप से पैदा नही हो सकेगी । इसलिए समाज में समान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का परोक्ष साधन माना गया। क्योंकि यह संसार मे प्रवृत्ति कराने की बात नही थी वरना सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्कों में स्पष्ट कराने का अथक प्रयास था।

यही कारण है कि उस अमानवीय युग मे श्री महावीर ने जो समान मानवता का अलख जगाया और नया जागरण पैदा किया वही महावीर का प्रमुख महावीरत्व है।

मैं अभी आपको विस्तार से बताऊँगा कि महावीर के सिद्धान्तो मे किस तरह समानता का अनुभाव कूट-कूटकर भरा है और ऐसा लगता है कि इस तरह एक लक्ष्य के लिए महावीर ने चतुर्मुखी प्रयास किये। एक दृष्टि से उन्होने यह सिद्ध किया कि सारे प्राणी एक समान हैं, एक समान शक्ति के धारक हैं और समान सम्मान के अधिकारी हैं और इसी धारणा को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उन्होंने न सिर्फ तत्कालीन समाज मे ही एक क्रान्ति की, बल्कि क्रान्ति की बलवती ध्वनि को युग-युगों के लिए गुंजायमान कर गये। जैन सिद्धान्तों में सामाजिकता की प्रभावशाली प्रेरणा भरी होने की यही मुख्य पृष्ठ भूमिका है।

सबसे पहले जैन सिद्धान्तो मे आध्यात्मिक दृष्टि से यह बताया गया है कि निश्चय नय से सभी आत्माएँ समान हैं। सभी अपना समान सर्वोच्च विकास साध सकती हैं और सभी आत्माओं में अनन्त शक्ति विद्यमान है। अनन्त आत्माएँ हैं उन सब का एक ही लक्षण है और जो भेद दृष्टि है वह सिर्फ कर्मों के कारण ही है। ये कर्म भी इन्ही आत्माओं की उपज होते हैं। आत्माएँ ही स्वयं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं, इस व्यापार में वे किसी भी अन्य शक्ति द्वारा प्रतिबंधित नहीं होती। जैन मान्यता ने ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता इसीलिए नहीं माना है कि यह सिद्धान्त आत्माओं में भेद करता है और ईश्वरत्व का आत्मा के सर्वोच्च विकास से अलग मानता है जो समानता की दृष्टि में सर्वथा अनुचित व अग्राह्य है। प्राणीमात्र को

हमारे यहाँ विकास की दृष्टि से पाँच भागो मे बाँटा गया है, एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक और मनुष्य पचेन्द्रियो मे श्रेष्ठ प्राणी है। इस मूल आध्यात्मिक धारणा को पुष्ट करते हैं जनो के अहिंसा और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त जो आचार और विचार की दृष्टि से मनुष्य मे एकता और समता पदा करता है।

जब सिद्धान्तो के मूल मे ही मानव समानता का लक्ष्य सामने रखा गया तो वह साफ था कि उसका सुप्रभाव समाज की हर दिशा मे पडता। इसलिए जैनधम ने कृत्रिम वर्ण व जाति भेद को सवथा तिरस्कृत किया और यह विचार फैलाया कि मनुष्य की समानता के आगे ये सब परम्पराएँ आघातकारी और विघ्नकारी हैं। जैनधम जाति या वर्ण के प्रचलित आधारो मे विश्वास नही करता। कोई भी व्यक्ति इसलिए बडा या छोटा नही है कि वह अमुक वग या जाति मे पैदा हुआ है।

वर्णवाद को गम्भीर चुनौती देते हुए महावीर ने उद्घोष किया कि वण से कोई क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र माना भी जाय तो उसका आधार उसके द्वारा किये जाने वाले कम ही होगे। यदि कोई वण से ब्राह्मण है और कम शूद्र के करता है तो जैन सिद्धान्त उसे ब्राह्मण मानने को तयार नही, वह शूद्र की ही श्रेणी मे गिना जायगा। इसी तरह जाति या कुलो की ऊँच नीचता भी मनुष्या की ऊँच नीचता नही हो सकती। महावीर ने खुले तौर पर वण, जाति और कुलो के भेद भावो के आधार पर खडे हुए समाज को ललकारा और उसे सब समानता का नवीन आधार प्रदान किया।

उन्होंने कहा कि धम किसी का तिरस्कार करना नही सिखाता, भेद भाव की सीढियाँ नही गढता। आत्माएँ सब एक हैं, मनुष्य एक हैं तो उनमे कम के अलावा भेदभाव कौन सा? जाति पाँति या कि छुआछूत, ये सब अमानुषिक भेदभाव हैं। सभी मनुष्यो के एक सी इन्द्रियाँ हैं, विवेक और अनुभव की बुद्धि है, हो सकता है कि वातावरण के अनुसार इन शक्तियो के विकास मे अन्तर हो, किन्तु उनकी मूल स्थिति मे जब कोई भेदभाव नहीं है तो कोई कारण नही कि एक कुल या जाति मे जन्म लेने से एक मनुष्य

तो पूजनीय और प्रधान का पात्र हो जायगा और दूसरा जन्म लेने मात्र से ही नीच, अधम और अनादर का भाजन हो जायगा।

सच पूछा जाय तो यह परम्परा बनाई धर्म के उन ठेकेदारों ने जो धर्म को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगे थे। ब्राह्मणों का उच्च वर्ग इसलिए माना गया कि वे साधनारत होकर ज्ञान का पठन पाठन करते किन्तु वे तो आचरण के धरातल को छोड़कर वर्ण के आधार पर ही अपने आपको बड़ा समझने लगे। इसी प्रकार क्षत्रियों व वैश्यों का भी समाज रक्षा व पालन का जो कर्त्तव्य था, वह भी कमजोर हो गया। अब इन तीनों वर्गों के दम का सारा बोझ गिर पड़ा शूद्रों पर, जिनके कर्त्तव्य तो तीनों वर्णों की हर प्रकार की सेवा के थे मगर अधिकार कुछ नहीं और आश्चर्य तो इस बात का कि धर्म के क्षेत्र में भी वे निरीह बना दिये गये। धर्मस्थान में जाने का उनको अधिकार नहीं, धर्मग्रंथ पढने के वे योग्य नहीं और धर्म गुरुओं का उपदेश भी वे नहीं सुन सकते। एक तरह से सामाजिक अन्याय की हद हो गई थी और यह हद इतनी नफरत भरी थी कि चांडाल और मेहतर वगैरा को छुआ नहीं जा सकता। छूने से उच्च वर्णों का धर्म भ्रष्ट हो जाता। एक मनुष्य पशु को छूता था लेकिन अपने जैसे ही मनुष्य को छूना पाप था।

और आज भी वही घृणित परम्परा चल रही है, छुआछूत की बीमारी गांधीजी के सत्प्रयासों के बाद भी घर करे बैठी हुई है। अंग्रेजी फैशन में पढ़े लोग कुत्तों को गोद में लेकर बैठेंगे, मगर हरिजन को नहीं छुएँगे। मनुष्यता का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है कि मनुष्य मनुष्य का इतना वीभत्स अनादर करे? और जब आप यह सोचेंगे कि हरिजन का ऐसा अनादर क्यों होता चला आ रहा है तो मेरा विचार है कि लज्जा से सिर झुक जायगा। इसीलिए तो उनका अनादर है कि वे आप लोगों का मैला अपने सिर पर उठाकर ले जाते हैं, जबकि सेवा का इससे बड़ा उदार क्या काम हो सकता है। माता होती है, बड़ी खुशी से अपने बालक की विष्टा साफ करती है, क्या आप उससे घृणा करोगे? उसकी ममता पूजी जाती है तो फिर हरि-

जन के साथ एसा अन्याय क्यो कि छुआछूत की प्रथा चलाई जाय ? इसी छुआछूत न हरिजनो के संस्कारो को गिराया है और उनके जीवन म आचरण की विकृतियां पैदा की है । आज जब उ हे समाज मे समान दर्जा मिलने लगेगा ता स्वयमेव उनके जीवन मे भी विकास होन लगेगा ।

तो महावीर ने इस छुआछूत को भी बुनियाद से हिलाया था । धर्म का आचरण जो भी करेगा, वह ऊँचा चढगा । उसम कोई भेदभाव नही कि चांडाल, श्रावक या साधु धम का आचरण न कर सके । जन धम म यो तो कई हरिजन वा चाडाल हुए होगे किन्तु चाँडाल मुनि हरिकेशी बडे प्रतापी हुए है यद्यपि हरिकेशी प्रत्येक बुद्ध थ, वे स्वय प्रतिबोध पाय । स्वय ही दीक्षित हुए । और गण व गुरु किसी की भी सहायता न लते हुए साधना क्षत्र मे आगे बढ व चरम विकास कर मोक्षगामी हुए । अत उनकी वह अवस्था हमार लिए आदश उपस्थित करती है ।

जैन धम न जाति, वर्ण व कुल के भेदभावो की जगह मानव समता ही नही बल्कि प्राणी मात्र की समता की स्थापना की और गुण पूजा तथा आचरण को महत्ता प्रदान की । इस तथ्य का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान और आचरण का विकास करके अपने जीवन मे प्रगति लाने का प्रयास करे और जो इन श्रेणियो म ऊपर चढता जायगा वही अपने गुणों की दृष्टि स ऊचा होता जायगा । यह धारणा है जिसस हर प्राणी मे विकास का एक उत्साह जागता है और हीन मान्यता पैदा नहीं होती । समाज मे आध्यात्मिक व व्यवहारिक समता पदा करन का महावीर का यह अनुपम उपदेश था ।

पुरुषों और स्त्रियो की विकास क्षमता मे भी जैन धम कोई भेद नहीं करता क्योंकि आत्म विकास मे लैंगिक भेद की भी कोई बाधा नहीं होती । समादर की दृष्टि से भी हमारे यहां दोनो मे भेद नही होती क्योकि समादर की बुनियाद हमारे यहा साधना और गुणो पर है । आप पुरुष होते हुए भी साध्वियों की वन्दना करत ही हैं, क्योकि स्त्री होते हुए भी साधना और गुणो मे वे आप श्रावको से ऊंची होती हैं । वास्तव में देखा जाय तो जैन-

और उनका तिरस्कार करने में क्यों कोई भी जघन्य कार्य नहीं समझते, उसमें महापाप नहीं मानते ? किसी काल में अहंकार की भावना ने जाति, वर्ग व कुलगत भेदभावों को जन्म दिया तथा आज अर्थगत भेदभाव जटिल बनाए जा रहे हैं किन्तु इन सब भेदभावों में प्रायः सत्यांश कुछ भी नहीं है, यह जैन सिद्धान्तों की दृढ़ धारणा है क्योंकि ये सब भेदभाव अहंकार को पुष्ट करते हैं जो समानता का विरोधी है। "माणेण अहमागई"—उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि मान से आत्मा अधम गति को पहुँचती है और जब मानव अधमाई की ओर बढ़ता है तो वह सत्य को नहीं समझ पाता।

भगवान महावीर ने प्राणीमात्र की एकता, समानता और आत्म सम्मान और निर्वाह का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका ढाई हजार वर्ष पहले कहा गया यह वाक्य आज भी एक नवीन प्रकाश प्रदान कर रहा है कि—

"अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाय।"

छहों काया के समस्त जीवों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। कितना विशाल और उदार सिद्धान्त है यह ? पर आज उन वीर प्रभु के उपासकों का ही रुख किधर है ? यह सोचें कि आत्मवत् व्यवहार से आपकी कितनी दूरी है ?

आज जैनधर्म के पुनीत सिद्धान्तों की माँग है कि उन पर आचरण किया जाय वरना अनाचरित सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभाव को हृदय में जमा लें और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उसका व्यवहारिक प्रयोग करें। जब यह तैयारी आप लोगों की हो जायगी तो मानव के बीच रहे हुए अगुण कृत किसी भी प्रकार के अन्तर को आप सहन न कर सकेंगे, चाहे वह अन्तर जाति का वर्ण के भेद पर खड़ा हो या कि आर्थिक विषम के बगार पर और तभी धर्म का भी स्वस्थ आचरण प्रारम्भ होगा। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्त्तव्यों का पुंज ही तो धर्म है जो समाज में बन्धुता और समता की धारा बहाते हुए आत्म विकास की दिशा में पराक्रमशाली बनाता है।

जैन सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समाज और

व्यक्ति दोनों किनारों को छूते हैं और समाज की स्वस्थ रीति-नीति पर व्यक्ति के विकास का एवं व्यक्ति की तेजस्विता पर समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों से दोनों का विकास साधना चाहते हैं ताकि मनुष्य का निवृत्तिवाद न सिर्फ आत्म कल्याण के लिए ही आवश्यक बने बल्कि वह मनुष्य की विकसित होती हुई सामाजिकता के लिए भी आवश्यक हो। सजग सामाजिकता आत्म कल्याण की ज्योति जगाए यही जैन सिद्धान्तों का सन्देश है।

जैन मन्दिर, शाहदरा, दिल्ली प्रथम आषाढ़ कृष्णा २ सं० २००७